कल्याण-मार्ग

दुनिया का हर व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां करते हुए भी अपना कल्याण चाहता है। धर्मी व्यक्ति धर्म करता है, उसमें भी उसकी भावना अपने कल्याण की है और पापी पाप करता है, उसमें भी उसकी इच्छा तो अपना भला करने की ही होती है। साधु-संतों का भी उद्देश्य अपना कल्याण करने का है। दुनिया में जो-जो जीव इच्छा कर सकते हैं और समझपूर्वक सुख-दुःख का अनुभव कर सकते हैं, वे सभी जीव किसी भी उपाय से अपना कल्याण चाहते हैं और कल्याण की इच्छा से ही सभी प्रकार की प्रवृत्तियां करते हैं। अधिकांश लोग चूँकि अपनी-अपनी समझ व सामग्री के अनुसार प्रवृत्तियां करते हैं, वे सुख-दुःख के वास्तविक स्वरूप और निदान से अनभिज्ञ होते हैं, इसलिए उनकी प्रवृत्तियां प्रायः आत्म-हितकारी नहीं होने से सुखदायी होने की बजाय दुःखदायी ही होती है। स्वरूप को समझने वाले बहुत थोडे लोग ही सही प्रवृत्तियों में लगकर अपना कल्याण साध पाते हैं।

अनंतज्ञानी वीतराग परमात्मा ने कल्याण का सच्चा मार्ग बतलाया है, परन्तु जगत के अधिकांश जीवों को उसका खयाल ही नहीं है। उन तारक परमात्मा के स्वरूप को जानकर परमात्मा के गुणों से रहित नामधारी देवों की सेवा को त्याग कर, एकमात्र राग-द्वेष रहित अनंतज्ञानी परमात्मा को ही परमात्मा के रूप में स्वीकार करना और उनकी आज्ञा के पालन में ही अपनी शक्ति लगाना, इन्द्रियों की वासना और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि का सर्वथा नाश करना, यही आत्म-कल्याण का सच्चा मार्ग है। दुनिया के नाशवंत पदार्थों में सच्चा व स्थायी सुख देने की ताकत नहीं है। नाशवंत पदार्थों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख, वास्तव में सुख नहीं होता, वह सुखाभास मात्र होता है, क्योंकि नाशवंत पदार्थों के संयोग से प्राप्त सुख भी नाशवंत ही होता है। नाशवंत वस्तुओं के योग से प्राप्त इस सुखाभास में मोहित होने वाले सच्चे सुख को पहचानते नहीं हैं। वे इन नाशवंत वस्तुओं को पाने, भोगने और उनके संरक्षण में इतने अधिक पाप करते हैं कि क्षणिक सुखाभास के बाद भविष्य में वे भयंकर दुःख प्राप्त करते हैं।

इस कारण जो सुख क्षणिक हो और परिणाम से भयंकर दुःखों का कारण हो, उस सुख को कोई भी समझदार व्यक्ति सच्चा सुख नहीं कहेगा। इसीलिए परम उपकारी ज्ञानी भगवंत ने कहा है, 'संसार दुःखमय है, दुःखफलक है और दुःखपरम्परक है। आत्मा में ही सच्चा सुख रहा हुआ है। जो आत्मा संसार से मुक्त बनती है, वह आत्मा अपने भीतर रहे सुख को प्रकट करती है। वही आत्मा सच्चे और स्थाई सुख को भोग सकती है।' अपनी आत्मा को संसार से मुक्त बनाने के लिए परमात्मा ने जो उपाय बतलाया है, उसे हम धर्म कहते हैं। धर्म अर्थात् दुःख मुक्त बनने का तथा आत्मा में रहे अनंत सुख को प्रकट करने वाला कल्याण-मार्ग!

धर्मो रक्षति रक्षितः

जो धर्म की सुरक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। यह बात तो प्रायः सभी मानते हैं, लेकिन आज धर्म के प्रति जैसा आदरभाव चाहिए, वैसा है नहीं। यदि आप अपने आत्म-धर्म की रक्षा करते तो आज जो दशा हो रही है, वैसी दशा नहीं होती। आप अपने आत्म-धर्म की रक्षा करोगे तो, वह आप के आत्मा की रक्षा करेगा। एक मात्र धर्म में ही दुःख-मुक्त कराने और सुख-प्राप्त कराने की शक्ति है; फिर भी आज व्यक्ति धर्म के प्रति कितना बेपरवाह है। व्यक्ति अपनी संतानों को धन-प्राप्ति व भोग का शिक्षण दिलाने में सावधान है, किन्तु धर्म के शिक्षण के प्रति उनका कोई रुझान नहीं है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः', यह बोलते-मानते हैं, पर सतही तौर पर यदि हृदय की गहराई से यह बात उठती तो आप अपनी संतानों को धर्म का शिक्षण दिए बिना नहीं रहते।

आपकी संतानें बुद्धिहीन और रोगी बन जाए, तो आपको दुःख होता है, परन्तु आपकी संतानें अनीतिवाली और अधर्मी बन जाए, तो उसका दुःख कितनों को होता है? संतानों के व्यावहारिक शिक्षण के लिए सभी प्रयत्न करते हैं, उसके लिए चिंतित होते हैं, लेकिन संतानों के धार्मिक शिक्षण के लिए कितने लोग उसी प्रकार से चिंतित होते हैं और प्रयास करते हैं? आपका पुत्र अनीति वाला हो, अधर्मी हो, दूसरों को ठगने में माहिर हो और खुद कहीं ठगा नहीं जाता हो, तो क्या आपको दुःख होता है? ऐसी स्थिति में आपको आनंद के बजाय दुःख होता हो और 'अधर्मी बनकर इसने कुल को लजाया है', ऐसा लगे तो 'धर्मो रक्षति रक्षितः', इस बात में आपका दृढ विश्वास है, ऐसा कह सकते हैं। संतानों का अधर्म देखकर खेद पाने वाले इस दुनिया में विरले लोग ही होते हैं।

प्राचीनकाल में आज से विपरीत परिस्थिति थी। परम्परागत व्यवसाय का शिक्षण घर पर स्वाभाविक रूप से मिल जाता था और धर्म के शिक्षण के प्रति विशेष ध्यान दिया जाता था। इस कारण कुटुम्ब में स्वाभाविक सम्प रहता और अच्छे आचार-विचार रहते थे। आज बेटा बाप का नहीं रहा, भाई भाई का नहीं रहा, भाई-बहिन का प्यार स्वार्थ की भेंट चढ गया, पति-पत्नी में अहम की लडाई आम बात है। आर्य प्रजा का आज कितना अधःपतन हो गया है? इस अधःपतन का कारण है परिवारों में से धर्म का शिक्षण चला गया। धर्म के प्रति अनादर बढ गया। दुनियावी स्वार्थ-वृत्ति को बढाने वाला शिक्षण मुख्य हो गया है और वैसे ही स्वार्थी संस्कार मिलने लगे हैं। दुनियावी स्वार्थ की लालसा बढने से अच्छे आचार-विचारों का लगभग नाश हो गया है। ध्यान रहे कि हमें वर्तमान में जो पौद्गलिक सामग्री का सुख मिला है, वह पूर्व के पुण्योदय के कारण मिला है। इस जीवन में हमने उससे पाप का उपार्जन किया और आत्म-धर्म की रक्षा नहीं की तो अगला भव अत्यंत कष्ट से भरा होगा।

दुःख-मुक्ति और सुख प्राप्ति कैसे हो?

परम उपकारी ज्ञानी भगवंत फरमाते हैं कि अपने कल्याण की कामना को पूर्ण करने के लिए अन्य सभी उपायों का त्याग कर एक मात्र धर्म का ही सेवन करना चाहिए। धर्म के अलावा जितने भी उपाय हैं, वे सभी पापरूप हैं, उनसे कल्याण नहीं होता, बल्कि अकल्याण में ही वृद्धि होती है। अतः कल्याण की कामना हो तो पाप-प्रयत्नों से पीछे हटकर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट सद्धर्म के आचरण में अप्रमत्त बनना चाहिए। मतलब कि केवल परमात्मा का घडी-दो घडी स्मरण कर लिया या जाप कर लिया, एक बार पूजा करली, केवल इससे कल्याण होने वाला नहीं है। प्रभु ने जो कुछ कहा है, उसे समझकर जीवन में आत्मसात् करना, यह महत्त्वपूर्ण है। परमात्मा की आज्ञा को जीवन-व्यवहार में उतारे बिना, दुःख और संसार से छुटकारा संभव नहीं है। अब इसके लिए मार्गदर्शन कौन करे? परमात्मा तो कल्याण-मार्ग बताकर चले गए!

परमात्मा अरिहंत देव के सच्चे प्रतिनिधि हैं, सुगुरु, आचार्य भगवन्। वे ही परमात्मा की आज्ञाओं का मर्म समझा सकते हैं और वे ही इस संसार में कल्याण की राह बता सकते हैं, वे ही अखण्ड सुख, परम आनंद और आत्म-कल्याण की राह पर चलने में सहायक हो सकते हैं। कंचन-कामिनी के त्यागी, मादक-पदार्थों और अन्य व्यसनों से रहित, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन तथा परिग्रह आदि से मुक्त, परमात्मा की आज्ञानुसार संयम जीवन जीने वाले, निर्दोष भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाले और जगत के जीवों को परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले गुरुदेव! ऐसे निर्ग्रन्थ रूप से विचरण करने वाले गुरुदेव की निश्राय स्वीकार करें और उनके बताए अनुसार धर्म का आचरण करें।

धर्म से साध्य क्या? परमात्म स्वरूप! अर्थात् पांचों इन्द्रियों की विषय-वासना और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि का सर्वथा नाश करना। ऐसे स्वरूप की प्राप्ति के लिए मन-वचन-काया से हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग। ऐसे हिंसादि पांच पाप न करना, न करवाना और न अनुमोदना करना। इस प्रकार का आचरण करने के लिए स्वजनों का त्याग करें, घर का त्याग करें, इन्द्रिय निग्रह करें और तपोमय जीवन जीएं।

इस प्रकार का उच्च और संयमी जीवन जीने की जिसमें शक्ति न हो, वह सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर श्रद्धा रखकर यथाशक्ति हिंसा आदि पापों से निवृत्त बने, संयम के अभ्यास रूप श्रावक जीवन के आचरण में प्रयत्नशील बने तथा परमात्मा की आज्ञा में तीव्र रस पैदा करने के लिए परमात्मा का पूजन आदि करे, क्योंकि पाप के त्याग और धर्म के आचरण के बिना सच्ची शान्ति वाला सुख मिलता नहीं है। पाप का भय पैदा हो और धर्म में रस बढे, तभी दुःख मुक्ति और सुख प्राप्ति संभव है।

दृष्टि-विपर्यास दूर करें

कई लोग थोडा-बहुत धर्म करते हैं और जब ऐच्छिक पदार्थ नहीं मिलते हैं, तब धर्म को दोष देते हैं। पूर्व में जो पाप किए हैं, उनके फल भी तो भोगने पडेंगे, यह बात वे नहीं सोचते और धर्म को कोसने लगते हैं। ऐसे लोग तो अज्ञानता से ही धर्म की निंदा करने लग जाते हैं। दूसरी बात यह है कि वास्तव में धर्म-पालन पौद्गलिक पदार्थों की प्राप्ति या पोषण के लिए नहीं, अपितु आत्म-गुणों को प्रकट करने के ध्येय से करना चाहिए। धर्म का ध्येय मोक्ष से विपरीत नहीं होना चाहिए। मोक्ष के ध्येय से और ज्ञानी की आज्ञानुसार किया गया धर्म अंत में अवश्य ही मोक्ष में पहुंचाता है। मोक्ष प्राप्ति के पूर्व दुनिया की सर्वश्रेष्ठ सामग्री देने की ताकत भी धर्म में ही है, किन्तु मोक्षार्थी मिली हुई उस सामग्री के भोग में ही उलझकर नहीं रहता।

किसी को पाप करने पर भी धन मिल जाता है, वह धन पाप से नहीं, अपितु पूर्व के पुण्य योग से मिला है, यह बात आप सोचते नहीं हैं। धर्म पालन करने पर भी यदि कदाचित् विपत्ति आए तो धर्म के प्रति द्वेष न कर सोचना चाहिए कि यह मेरे पूर्व में किए गए पापों का परिणाम है। लेकिन, आज दृष्टि-विपर्यास बढ गया है। सर्वथा दुःख-मुक्ति और एकांत सुखमय शाश्वत जीवन पाने के लिए हमें इस दृष्टि-विपर्यास से मुक्त होना पडेगा। आत्मा, आत्म-गुण और आत्म-गुणों का विकास करने वाली सामग्री सुदेव, सुगुरु, सुधर्म, स्वाध्याय, तप, प्रत्याख्यान, संयम के प्रति प्रशस्त राग-भाव बढाना होगा। इन्हें छोड अन्य दुनियावी वस्तुओं को अपने से पर मानकर, उसके संबंध से छूटने के लिए प्रयत्नशील बनना पडेगा। पूर्व के पुण्योदय से प्राप्त सामग्री का उपयोग भोग में न कर आत्म-गुणों को विकसित करने में करना चाहिए। पूर्व के पुण्योदय से प्राप्त सामग्री के भोग से नए पाप बांधना, इसमें बुद्धिमत्ता नहीं है, अपितु उसके आत्मिक सदुपयोग में बुद्धिमत्ता है।

दुःख आने पर भी घबराएं नहीं और 'यह मेरे पूर्व में किए गए पाप कर्म का फल है', यह सोचकर दुःख को समभाव से सहन करना चाहिए, जिससे पाप का फल भोगते हुए अन्य पापकर्मों से आत्मा बंधती नहीं है। आज तो पुण्योदय से प्राप्त सुख और पापोदय से प्राप्त दुःख, दोनों ही स्थिति में आत्मा नए-नए पाप-कर्मों का बंध करती है। इस कारण भविष्य भी बिगड जाता है। इस स्थिति को सुधारने के लिए अपनी दृष्टि को बदलना चाहिए। जड पदार्थ में रही आत्म-बुद्धि को दूर करना चाहिए और वैसे ही आत्मा के प्रति जो उपेक्षा-भाव है, उसे भी दूर करना चाहिए।

स्व अर्थात् अपनी आत्मा, पर अर्थात् जड से जकडी हुई है। अतः पर के योग से छूटने के लिए जो-जो उपयोगी सामग्री हो, उसे प्राप्त करना चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए। यह सब

तब शक्य है, जब आप सच्चे आत्मवादी बनें। पाश्चात्य लोग प्रायः जडवादी हैं। आज वह हवा हमारे देश में भी फैल रही है। इसलिए उससे बचे बिना और आत्मवादी हुए बिना कल्याण होने वाला नहीं है।

मोक्ष साध्य है और धर्म उसका साधन

इस दुनिया में 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष', ये चार पुरुषार्थ माने जाते हैं। चारों पुरुषार्थों को उपादेय मानने वाले समझते हैं कि हर व्यक्ति को अपने-अपने उचित समय में चारों पुरुषार्थों का सेवन करना चाहिए, इनमें से किसी पुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चारों पुरुषार्थों का सेवन ही दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति का मार्ग है।

अनंतज्ञान के योग से सुख-दुःख के वास्तविक निदान और सच्चे सुख के ज्ञाता ज्ञानी पुरुष फरमाते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ जगत में माने जाते हैं, किन्तु अर्थ और काम तो नाम के ही पुरुषार्थ हैं। परमार्थ से तो ये दोनों अनर्थभूत ही हैं। अर्थभूत पुरुषार्थ एक मात्र मोक्ष ही है और संयम आदि दस प्रकार का धर्म उसका माध्यम है। इस दृष्टि से देखा जाए तो धर्म ही सच्चा पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म पुरुषार्थ की साधना में मोक्ष पुरुषार्थ की साधना आ जाती है। धर्म की पूर्ण आराधना के फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि मोक्ष साध्य है और धर्म उसका साधन। मोक्ष का सुख ही सच्चा सुख है। वह सुख, दुःख मात्र से रहित, सम्पूर्ण तथा अक्षय अर्थात् कभी नष्ट नहीं होने वाला है।

जगत के जीवों को ऐसा ही सुख चाहिए, क्योंकि किसी को ज्यादा सुख में थोडा भी दुःख आ जाए तो वह पसन्द नहीं आता है। जब तक पूर्ण सुख न मिले, तब तक सुख पाने की इच्छा बनी रहती है। अपूर्ण सुख भी दुःखरूप बन जाता है। अतः हर व्यक्ति चाहता है कि मेरा सुख स्थाई बना रहे। अज्ञानता के कारण भले ही संसारी जीव स्वयं को पसन्द सुख के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त न कर सके तो भी उनकी मनोदशा समझ ली जाए तो संक्षेप में कह सकते हैं कि उन्हें नाम मात्र के भी दुःख से रहित सम्पूर्ण और स्थाई सुख चाहिए। जहां ऐसे सुख की बात आती है, वहां अपने को ज्ञानी मानकर दुनिया को सच्चे सुख का मार्ग बतलाने का दावा करने वाले अपूर्ण ज्ञानी मोहित हो जाते हैं, परन्तु जो अनंतज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वे तो सबकुछ जानते हैं। वे फरमाते हैं कि 'जगत के जीवों को जो दुःखमात्र से रहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुख चाहिए, वह दुनिया में तो कहीं नहीं मिल सकता है, ऐसा सुख तो सिर्फ मोक्ष में है।'

संसारी लोग पौद्गलिक पदार्थों के योग में सुख की कल्पना कर रहे हैं, परन्तु पौद्गलिक योग से सर्वथा मुक्त बनने पर ही ऐसे वास्तविक सुख को पा सकते हैं। अपनी आत्मा जड कर्म के योग से सर्वथा मुक्त बनकर मोक्ष प्राप्त करेगी, तभी दुःख मात्र से रहित, सम्पूर्ण व स्थाई सुख पा सकती है। इसी कारण ज्ञानी भगवंत मोक्ष की साधना को ही प्रधानता देते हैं।

धर्म के सेवन बिना मोक्ष की प्राप्ति अशक्य है, इसीलिए ज्ञानी फरमाते हैं कि 'अर्थ और काम ये नाम के ही पुरुषार्थ हैं'। मोक्ष ही अर्थभूत है और संयम आदि दसविध धर्म उसका माध्यम हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मोक्ष के लिए ही धर्म का सेवन करना चाहिए।

अर्थ-काम भाग्याधीन हैं

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष', इन चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम तो नाम के ही पुरुषार्थ कहे हैं।' कारण कि अर्थ और काम की प्राप्ति स्वतंत्र रूप से नहीं है, उनमें अन्य पुण्य वस्तु की अपेक्षा रहती है। दुनिया के सभी लोग अर्थ और काम के लिए रात-दिन मेहनत करते हैं, रात-दिन अर्थ और

काम की प्राप्ति के लिए ही विचार और प्रवृत्ति करते हैं। अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं, फिर भी हम देखते हैं कि दुनिया में श्रीमंत कितने और गरीब कितने? भोग की सामग्री से सम्पन्न कितने और भोग की सामग्री से रहित कितने? इससे स्पष्ट है कि पुरुषार्थ करने पर भी इच्छित की प्राप्ति सभी को नहीं होती है।

अर्थ और काम की प्राप्ति इस जन्म के पुरुषार्थ के अधीन होती तो किसी को भी पुरुषार्थ किए बिना अर्थ-काम की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है, क्योंकि कई लोग ऐसे स्थान में जन्म लेते हैं, जिन्हें लेशमात्र भी श्रम किए बिना अर्थ-काम की प्राप्ति हो जाती है। राजा व श्रीमंत के यहां जन्म लेकर राजा व श्रीमंत बनने वालों ने इस जन्म में कौनसा पुरुषार्थ किया था? किसी को बिना किसी मेहनत के विपुल सम्पत्ति का स्वामीत्व प्राप्त हो जाता है, उसमें इस जन्म की मेहनत कहां थी? इससे सिद्ध होता है कि सिर्फ इस जन्म के पुरुषार्थ से अर्थ-काम की प्राप्ति नहीं होती है, अपितु पुरुषार्थ करने पर भी उसी को अर्थ-काम की प्राप्ति होती है, जिसने पूर्व भव में पुण्यकर्म का उपार्जन किया हो। जिसने पूर्वभव में पुण्य उपार्जन नहीं किया, उसे लाख प्रयत्न करने पर भी इस जन्म में इच्छानुसार अर्थ-काम की प्राप्ति नहीं होती है।

जिस प्रकार बिना श्रम किए अर्थ-काम की प्राप्ति किसी भाग्यशाली को होती है, उसी प्रकार अर्थ-काम का भोग भी भाग्यशाली ही कर सकता है। भाग्य न हो तो घर में मेवा-मिष्ठान्न व अनाज के भण्डार भरे पडे हों तो भी मूंग के पानी या छाछ पर जिन्दा रहना पडता है। जिसका भाग्य नष्ट हो गया हो, वह लाख कोशिश करे तो भी उसे राजगद्दी छोडनी पडती है। बडे श्रीमंत को भी दर-दर भीख मांगनी पडती है। इस प्रकार अर्थ-काम की प्राप्ति, उनका भोग और उनका संरक्षण इस जन्म के पुरुषार्थ के अधीन नहीं है, भाग्याधीन है। पूर्वोपार्जित पुण्याधीन है। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि दुनिया भले अर्थ और काम को पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करे, लेकिन ये नाम के ही पुरुषार्थ हैं।

इस दुनिया में अर्थ-काम की जो अनुकूलता प्राप्त होती है, वह पुण्य के योग से और जो कुछ विडम्बनाएं प्राप्त होती हैं, वह पाप के योग से होती हैं। इस बात से सभी आस्तिक दर्शनकार इत्तफाक रखते हैं। सत्कर्म से पुण्य और दुष्कर्म से पापबंध होता है। सत्कर्म भी धर्म का ही एक प्रकार है, इसलिए यह मानना पडेगा कि धर्म के बिना अर्थ-काम की भी सिद्धि नहीं होती है। मोक्ष की सिद्धि भी धर्म के बिना नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि दुनिया में चार पुरुषार्थ कहे भले ही हों, किन्तु धर्म ही सच्चा पुरुषार्थ है। चूंकि सच्चे और अक्षय सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही संभव है, इसलिए ज्ञानियों ने अर्थ-काम को हेय मानकर सिर्फ मोक्ष के लिए ही धर्म करने का उपदेश दिया है।

दुनियावी वस्तुओं के पीछे भागना मूर्खता

उपकारी महापुरुषों ने हमें आत्मा के मूल स्वरूप को प्रकट करने का मार्ग बताया है, उसी का नाम धर्म है। आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने के ध्येय से ही धर्म आचरण करना चाहिए। दुनियावी वस्तुओं में सुख देने की शक्ति नहीं है, यदि होती तो वे चीजें किसी को सुखदायी और किसी को दुःखदायी लगे ऐसा न होता। इतना ही नहीं, दुनियावी वस्तुएं चाहे जितनी मेहनत और पाप करके प्राप्त की हो तो भी उनकी सुरक्षा और उनका भोग व्यक्ति की इच्छा के अधीन नहीं है।

मेहनत और पाप करने के पश्चात भी जिसका भाग्य होता है, उसी को दुनियावी वस्तुएं प्राप्त होती हैं। दुनियावी वस्तुएं मिलने के बाद भी जिसका भाग्य हो वो ही व्यक्ति उन्हें भोग सकता है। भाग्य में न हो तो देनदार कर्ज न चुकाए, घर में चोरी हो जाए, खेती-व्यापार में नुकसान हो जाए, आग लग जाए। इस प्रकार अनेक कारणों से प्राप्त वस्तुएं भी चली जाती हैं। कदाचित् भाग्य योग से रह

जाएं और भोगने का भाग्य न हो तो ऐसी बीमारी आ जाती है, जिस कारण खाना-पीना, ओढना-पहिनना बंद हो जाता है। कदाचित् भाग्य अनुकूल हो और वस्तुएं भोगने को भी मिलें, तब भी अंत में तो उन सबको यहीं छोडकर अकेले ही जाना पडता है।

इसलिए दुनियावी वस्तुओं में सुख मानने में बुद्धिमत्ता नहीं है। इन नाशवंत और पराधीन वस्तुओं की प्राप्ति, सुरक्षा और भोग में मशगूल बनकर असीम पुण्य योग से प्राप्त इस मनुष्य जन्म को पापों से मलीन करना, सिर्फ मूर्खता ही है। ऐसी मूर्खता कर सुख की आशा रखना, यह तो महामूर्खता है। ज्ञानी महापुरुषों ने इस मूर्खता को छोडने का उपदेश दिया है। उनका तो उपदेश है कि, 'दुनिया के किसी भी पदार्थ में सुख नहीं है, सुख तो सिर्फ आत्मा में ही रहा हुआ है।' इस सत्य को समझकर आत्मा के सुख को प्रकट करने के लिए पाप को त्यागो और सच्चे धर्म के सेवन में तत्पर बनो। उपकारी महापुरुष फरमाते हैं कि ज्ञान-चक्षु खोलो, वस्तु-स्थिति को समझो।

'दुनिया के नाशवंत पराधीन पदार्थों के संयोग से सुख मिलता है', इस भ्रम को दूर कर आत्मा में रहे शाश्वत सुख को प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील बनो। पुण्योदय से प्राप्त दुनियावी वस्तुओं का भी मोह छोडो, क्योंकि उन वस्तुओं में सुख मानकर भोग में पडोगे तो पाप का बंध होगा, जिसके फलस्वरूप पुनः दुःख प्राप्त होगा। पुण्योदय से प्राप्त दुनियावी वस्तुओं का भी त्याग करना और दुःख में भी खेद न कर, धर्म का आचरण करना, यही सच्चे सुख का श्रेष्ठ मार्ग है। महान पुण्योदय से प्राप्त मानव जन्म को सफल व सार्थक बनाने के लिए यही एक मार्ग है। पूर्व के अनंत भवों की तरह यह भव भी निरर्थक चला गया तो वापस आर्य संस्कृति, सुदेव, सुगुरु, सुधर्म का योग कब मिलेगा, कहा नहीं जा सकता।

शाश्वत सुख के लिए मोक्ष ही प्राप्तव्य

जहां दुःख का नामोनिशान नहीं, सुख की अपूर्णता नहीं, जहां सुख कभी घटने वाला और नष्ट होने वाला नहीं, ऐसा स्थान एक मात्र मोक्ष ही है। ऐसे स्थान की प्राप्ति हो तो ही सुख के संदर्भ में संसारी जीवों की जो इच्छा है, वह पूर्ण हो सकती है। इसी कारण धर्म से अर्थ, काम और मोक्ष इन तीनों की प्राप्ति होने पर भी अर्थ-काम की प्राप्ति के लिए धर्म करने का निषेध कर एक मात्र मोक्ष के लिए धर्म करने की आज्ञा अनंतज्ञानियों ने फरमाई है।

मोक्ष क्या है? मोक्ष अर्थात् अपनी आत्मा के स्वरूप का पूर्ण प्रकटीकरण! पुण्य और पाप से सर्वथा मुक्त बनना, इसी का नाम मोक्ष है। जब तक आत्मा पुण्य-पाप से लिप्त होती है, तब तक आत्मा शुद्ध स्वरूप वाली नहीं है। अभी अपनी आत्मा पुण्य-पाप के अधीन है। पुण्योदय से अनुकूल और पापोदय से प्रतिकूल सामग्री प्राप्त करती है। इस स्थिति को दूर किए बिना एकांत सुखमय स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती है। हमें दुःख रहित, पूर्ण और शाश्वत सुख चाहिए। दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो शाश्वत काल टिक सके। पुण्य भी शाश्वत काल टिकने वाला नहीं है। शाश्वत काल रहने वाला एकमात्र आत्म-स्वरूप है। आत्म-स्वरूप प्रकट हो तो शाश्वत सुख मिले। स्व-स्वरूप की प्राप्ति बिना आत्मा एक स्वरूप में शाश्वत काल टिक नहीं सकती, क्योंकि पुण्य-पाप के योग से स्थिति बदलती रहती है।

पुण्य और पाप, इन दोनों से मुक्त होने का साधन एक मात्र धर्म है। मोक्ष के उद्देश्य से किए गए धर्म से आत्मा पर लगे कर्मों की निर्जरा होने लगती है। उस समय पुण्य का बंध भी हो तो वह पुण्य आत्मा को मोक्ष की साधना में सहायक बनता है, अर्थात् वह पुण्यबंध मोहित नहीं होने देता है। वह पुण्य तो अर्थ-काम की उत्तमोत्तम सामग्री देता है, फिर भी वैराग्य जीवित रहता है, जीवित रखता

है। अतः आत्मा उस सामग्री को मोक्ष-साधना में सहायक बना सकता है। धर्म से अर्थ-काम की प्राप्ति अवश्य होती है, परन्तु अर्थ-काम की प्राप्ति के उद्देश्य से धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। क्योंकि, धन-दौलत और इन्द्रिय-सुख शाश्वत नहीं हैं, इनका भोग और इनकी आसक्ति आत्मा को दुर्गति में ले जाती है।

अर्थ-काम की वासना तो आत्मा को सच्चे सुख से दूर रखने वाली है। उस वासना को दूर कर आत्म-स्वभाव प्रकट करने की भावना करनी चाहिए। 'अर्थ-काम से सुख मिलता है', यह बात आज सभी मान बैठे हैं और इसी के पीछे भाग रहे हैं, इन्हें पाने के लिए लोग सारी जोड-तोड कर रहे हैं, नीच से नीच काम करने तक को तैयार हो जाते हैं, लेकिन यह सोचना भूल जाते हैं कि इनसे आज तक कितने लोग चरम सुख पा सके हैं? अर्थ-काम से प्राप्त क्षणिक सुख में लुब्ध बनने से कितने दुःख उठाने पडते हैं? शाश्वत सुख पाना हो तो अल्पकालीन सुख का लोभ छोडना ही चाहिए।

हर किसी को धर्म नहीं रुचता

वर्तमान समय में इस भरत क्षेत्र में अनंतज्ञानी पुण्य पुरुष विद्यमान नहीं हैं, परन्तु उन तारकों के द्वारा निर्दिष्ट पुण्य-पाप के स्वरूप को बतलाने वाले शास्त्र विद्यमान हैं। उन शास्त्रों की आज्ञानुसार जीवन जीने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और उन शास्त्रों के मर्म को जानने वाले त्यागी पुरुषों की सेवा करनी चाहिए। अनंतज्ञानी वीतराग परमात्मा को देव के रूप में, उन तारकों की आज्ञानुसार जीवन जीने वाले संसार-त्यागी को गुरु के रूप में तथा उन तारकों के द्वारा निर्दिष्ट धर्म को, धर्म मानकर, उनको स्वीकार कर, उनको अंगीकार कर अन्य नामधारी-मिथ्यात्वी देव, गुरु और धर्म का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार सुदेव-सुगुरु-सुधर्म को अपना कर संसार-त्यागी गुरुओं की सेवामें रहते हुए धर्म साधने के लिए स्वयं भी संसार-त्यागी बनकर हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के पापों का मन, वचन, काया से सर्वथा त्याग करना चाहिए। ऐसे पाप दूसरों से भी नहीं कराने चाहिए और ऐसा पाप करने वालों की अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार संसार का त्याग कर आत्मा के मूल और निर्मल स्वरूप को प्रकट कराने में सहायक अनुष्ठानों में गुरु एवं शास्त्राज्ञानुसार जुट जाना चाहिए, ताकि आत्मा को आवृत्त करने वाले कर्मों का क्षय किया जा सके और आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनकर अविनाशी सुख और परम आनन्द को प्राप्त कर सके।

यहां कई बार अपनी अल्प समझ के कारण या भौतिकता की चकाचौंध में आसक्त लोग बहानेबाजी के रूप में अथवा तो कोई मिथ्यात्वी हंसी उडाने के बहाने एक सवाल उठाते हैं कि 'रोज-रोज वैराग्य और साधु बनने का ही उपदेश दिया जाता है, सभी साधु बन जाएंगे तो फिर क्या होगा?' इसका जवाब यह है कि, 'स्वयं परमात्मा की उपस्थिति में, उन तारकों का सतत उपदेश प्रवाहित होने पर भी किसी काल में ऐसा हुआ नहीं है और भविष्य में भी कभी ऐसा होने वाला नहीं है, क्योंकि दुनिया के अनंत जीवों में से जो अल्प-संसारी भाग्यशाली आत्मा होती है, उसी को ही अनंतज्ञानी परमात्मा का सच्चा और युक्तियुक्त उपदेश पसन्द आता है। हर किसी को धर्म नहीं रुचता। पुण्यशाली आत्माओं को ही यह संयोग मिलता है।'

'हीनभागी आत्माओं को तो ऐसी बातें सुनने को भी नहीं मिलती है। कदाचित् सुनने को मिल जाए तो भी भारीकर्मिता के कारण वे बातें समझ में नहीं आती, पसंद नहीं आती है। प्रभु के वचन पसन्द आने के बाद भी जो भाग्यशाली, अल्पसंसारी और लघुकर्मी आत्माएं होती हैं, वे ही आत्माएं

भगवान की आज्ञानुसार साधु बनकर, पाप का त्याग और धर्म का आचरण कर सकती हैं। इस कारण सभी साधु बन जाएंगे तो फिर क्या होगा, यह चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।'

मोक्ष-साधक धर्म की उपेक्षा ठीक नहीं

अनंत उपकारी अनंतज्ञानी श्री वीतराग परमात्मा फरमाते हैं कि 'अर्थ और काम को त्याज्य और मोक्ष-साधक धर्म को उपादेय मानो।' परन्तु, आज अर्थ और काम का ही शिक्षण दिया जाता है, अर्थ और काम के दासत्व में ही सुख माना जाता है। आत्मा के स्वरूप और आत्मा के मोक्ष का विचार भी नहीं आता है। आज जहां धर्म का भी अर्थ-काम के साधन के रूप में ही इस्तेमाल किया जाता हो, वहां 'अर्थ-काम हेय है और मोक्ष-साधक धर्म ही उपादेय है', यह बात उपदेश में कही जाए तो पसंद किसको आए?

आपको पसंद आए या न आए, परन्तु जो हितकर बात है, वह अवसर देखकर कहनी ही चाहिए, जिससे श्रोताओं में कोई सुयोग्य आत्मा हो तो उसे लाभ हो जाए। योग्य आत्मा को सत्य का प्रकाश मिल जाए तो उसमें आत्म-हित की भावना जागृत हो सकती है। कडवी भी बात यदि हितकर हो तो उसे कहने में ही दया है। मां अपने बीमार पुत्र को दबाव करके भी कडवी दवाई पिलाती है, फिर भी वह निष्ठुर नहीं कहलाती है। उसी प्रकार साधु भी वीतराग परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट धर्म को जीवन में आत्मसात् कर जगत में उस धर्म का प्रचार करने वाले होते हैं। वे साधु यदि आपको सच्ची व हितकारी बात न कहकर आपको खुश करने के लिए दूसरी ही बातें करें, चिकनी-चुपडी करें, तो कहना पडेगा कि वे साधु परमात्मा के बताए मार्ग के प्रति वफादार नहीं हैं। इतना ही नहीं, वे दयाहीन भी हैं, क्योंकि यदि दयालु होते तो दूसरों के रोष के भाजन बनकर भी हितकर सच्ची बात ही कहते। जब सच्ची बात सामने वाले के गले उतरेगी तो अवश्य ही उसका रोष उतर जाएगा और वह उपकार मानेगा।

साधु को तो सच्ची हित-शिक्षा ही देनी चाहिए और आपको भी अपनी भलाई के लिए सुसाधुओं की सच्ची हित-शिक्षा को जीवन में आत्मसात् करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। यहां हर बात में 'हां' कह दो और फिर घर जाने के बाद आचरण में लाने के लिए कुछ भी प्रयत्न न करो तो यह नुकसान साधु का नहीं, आप के स्वयं का है, क्योंकि सुधर्म की साधना नहीं करोगे तो आप ही सच्चे सुख से वंचित रहोगे। सुसाधुओं को तो आप अमल करें या न करें, फिर भी हितकर भावना के कारण एकांत लाभ ही है। अर्थ-काम की वासना बढाने वाले, अर्थ-काम को उपादेय मानने वाले, अर्थ-काम से कल्याण है, ऐसा उपदेश देने वाले न देव हैं, न गुरु हैं और न ही वो धर्म है। मोक्ष के लिए ही धर्म का आचरण आवश्यक है। अतः अन्य कामनाओं का त्याग कर एक मात्र मोक्ष-साधक धर्म के आचरण में ही तत्पर बनो। जो आत्माएं मोक्ष-साधक धर्म के आचरण में उद्यमशील बनेंगी, वे आत्माएं क्रमशः दुःखरहित सम्पूर्ण शाश्वत मोक्ष सुख प्राप्त करेंगी।

शक्य पाप छोडो

जिसे धर्म से प्रेम नहीं है, वह दुःखी हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दुःख से बचना हो और सुख पाना हो तो धर्म के अलावा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस जगत में सर्वश्रेष्ठ धर्म वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित साधु-धर्म ही है। इसमें पाप का सर्वथा त्याग होता है और आत्मा का सहज निर्मल स्वरूप प्रकट हो, ऐसा पुरुषार्थ एवं आचरण होता है। मनुष्य गति और साधु-धर्म के माध्यम से ही आत्मा 'पुनरपि जननम्, पुनरपि मरणम्' के चक्र से मुक्त हो सकती है और

उसका चौरासी लाख जीव-योनियों में भटकाव खत्म हो सकता है, अपार और असह्य कष्टों से उसे मुक्ति मिल सकती है।

वर्तमान में आप संसार का त्याग करने में असमर्थ हों तो यह कह सकते हैं कि 'यह धर्म तो बहुत सुन्दर है, परन्तु इसका पालन हमारे लिए अभी शक्य नहीं है, अतः कोई दूसरा उपाय बताओ।' जिसके दिल में ऐसी भावना जगी हो, उसके लिए दूसरा उपाय है- 'दुनियावी पदार्थों को आत्मा से भिन्न मानकर उनके प्रति ममता-आसक्ति का त्याग करना'। यह शरीर भी अपने से भिन्न है, अतः शरीर की ममता का भी त्याग करना चाहिए, क्योंकि दुनियावी पदार्थ और शरीर की ममता तथा उनके सुयोग से सुख की कल्पना ही पाप का मूल है। अतः संसार न छूटे तब भी, संसार में रहते हुए भी उसकी ममता घटाकर जितना संभव हो, उतने हिंसादि पापों का त्याग करना चाहिए। इसके साथ ही यथाशक्ति देव-गुरु-धर्म की सेवा करनी चाहिए।

किसी भी निरपराधी जीव को पीडा नहीं पहुंचानी चाहिए। बडे झूठ नहीं बोलने चाहिए। 'चोर के नाम से कर्म कलंकित हो, ऐसी चोरी नहीं करनी चाहिए।' स्व-स्त्री में संतोषी बनना चाहिए और परिग्रह का परिमाण करना चाहिए। इतना हो सकता है न? यह भी इन्द्रियों पर संयम आए तभी हो सकता है। इस प्रकार शक्य पाप छोडने का प्रयास करते-करते शक्ति प्राप्त हो जाए और भावना बढ जाए तो साधु जीवन को स्वीकार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार परमात्मा की शरणागति को स्वीकार कर जो आत्माएं साधु-धर्म की आराधना करने में लीन बनती हैं, वे आत्माएं इस भव में समभाव के कारण विकट परिस्थिति में भी अनुपम शान्ति प्राप्त करती हैं। इस भव में पाप का त्याग और धर्म के आदर के फलस्वरूप परभव में भी उस आत्मा को उत्तम सामग्री प्राप्त होती है। इस प्रकार वर्तन करने वाले का क्रमशः आत्म-स्वरूप प्रकट होने से वो आत्मा अनंत सुख की भोक्ता बनती है। सभी आत्माएं इस प्रकार का आचरण कर, दुःख से मुक्त बनकर, शाश्वत सुख की भोक्ता बनें, यही शुभाभिलाषा।

गतानुगतिकता की मूढता का त्याग करें

इस जगत में सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं। अनंत उपकारी अनंतज्ञानी महापुरुषों ने जगत के जीवों को दुःख से मुक्त बनने और सुखी बनने का मार्ग बतलाया है। वह मार्ग आज भी विद्यमान है, परन्तु जगत के जीव गतानुगति वृत्ति वाले हैं। इस कारण दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति का पूरा निर्धार करते ही नहीं हैं। अपनी ऑंखों के सामने देख रहे हैं कि सुख पाने और दुःख से मुक्त बनने के लिए अनेकानेक लोग रात-दिन मेहनत करते-करते मर गए, किन्तु न तो उनका दुःख गया और न ही उन्हें सच्चा सुख मिला। यहां तक कि जिन्दगीभर हर तरह के प्रयत्न करके, उन्होंने जो-जो वस्तुएं प्राप्त की, वे वस्तुएं भी उनके साथ नहीं गई, उनके साथ तो सिर्फ पुण्य और पाप ही गया।

जगत के जीव यह सब दृश्य अपनी ऑंखों के सामने देखकर भी यह विचार तक नहीं करते हैं कि एक दिन हमें भी इसी तरह जाना पडेगा और सुखी बनने की इच्छा होने पर भी यहां किए गए पापों के कारण दुःखी होना पडेगा। 'पाप से प्राप्त वस्तुएं यहां रह जाती हैं और पाप साथ चलता है', यह बात जानने के बावजूद भी कुछ भी विचार किए बिना, सभी की तरह स्वयं भी नाशवंत पदार्थों को पाने के लिए पाप करता रहता है, क्या यह जैसी-तैसी मूढता है? यह मूढता दूर न हो और सुख व दुःख के वास्तविक कारणों को जानकर, ज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को जानने का प्रयत्न न हो, तब तक हमें दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा हो तो भी क्या फायदा?

दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति की अभिलाषा को सफल बनाना हो तो गतानुगतिकता की मूढता का त्याग कर विवेकी बनना चाहिए और जगत के जीवों को सुख-प्राप्ति का मार्ग बताने वाले पूर्ण ज्ञानी तारक परमात्मा की आज्ञापालन के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए। दुनिया के अनुसार चलोगे तो दुनिया के जीवों की जो हालत हुई है, वह आपकी भी होगी। यह स्पष्ट बात है।

'दुःख का मूल पाप है', इस बात को कौन नहीं जानता? 'पाप बिना दुःख नहीं', इस बात में कोई मतभेद नहीं है। 'पाप करने से दुःख आता है तो फिर दुःख से बचने और सुख पाने के लिए पाप करना? यह क्या? इसमें कोई समझदारी है? विवेक पूर्वक वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न करो और फिर समझ पूर्वक गलत मार्ग को छोडकर सच्चे मार्ग को स्वीकार करो। सच्चे मार्ग को स्वीकार करने के बाद, उस मार्ग की आराधना के लिए खूब प्रयत्न होगा, तभी सच्चा कल्याण हो सकेगा। सच्चे सुख को पाना हो तो प्रयत्न पूर्वक उसे प्राप्त किया जा सकता है। दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति का मार्ग नहीं है, ऐसी बात नहीं है। मार्ग तो है, पर उस पर चलें तभी तो लाभ हो सकता है!

जड का योग ही दुःख का मूल

इस दुनिया में मुख्यतया जड और चेतन ये दो तत्त्व विद्यमान हैं। दुनिया के सभी पदार्थ व प्राणियों का समावेश इन दो तत्त्वों में हो जाता है। कई वस्तुएं सिर्फ जड हैं, कई वस्तुएं सिर्फ चेतन हैं और कुछ वस्तुएं जड-चेतन के योग वाली हैं। बंगला, घर, पैसे आदि सिर्फ जड हैं। जड के संयोग से मुक्त बनकर निज स्वरूप को प्राप्त सिद्ध भगवंत सिर्फ चेतन हैं तथा मनुष्य, देव, नरक व तिर्यंच इन चार गतियों में और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करती हुई आत्माएं जड-चेतन के संयोग वाली है। जड-चेतन के संयोग वाली आत्मा अपने जड-चेतन के संयोग को समझकर, जड के संयोग का नाश कर अपनी आत्मा के निर्मल स्वरूप को प्राप्त करे, इसके लिए ही धर्म का आयोजन है। धर्म के प्रवर्तकों ने धर्म की प्ररूपणा दुनियावी स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं की है। दुनियावी प्राणियों के हित के लिए ही धर्म की प्ररूपणा की गई है। धर्म के प्रवर्तक-प्ररूपक तो राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त थे, अनंतज्ञान के स्वामी थे, इस कारण उन तारकों को अन्य किसी भी प्रकार की अभिलाषा नहीं थी और हो भी नहीं सकती थी। उन तारकों ने धर्मशासन की स्थापना इच्छापूर्वक नहीं की है, बल्कि पूर्व भव में जो प्राणीमात्र के कल्याण की भावना की थी, उस भावना से उपार्जित महापुण्य के योग से वे तारक धर्म-शासन की स्थापना करते हैं, फिर भी उपचार से हम कह सकते हैं कि दुनिया के जीवों के एकांत कल्याण के लिए ही उन तारकों ने धर्मशासन की स्थापना की थी।

जैन शासन क्या है? चेतन और जड के यथार्थ स्वरूप को समझाकर आत्मा के साथ बने हुए अनादिकालीन जड संयोग से आत्मा को मुक्त बनाने का मार्ग बताने वाला शासन, जैन शासन है। दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति का एक मात्र उपाय भी यही है कि आत्मा के अनादिकालीन जड संयोग को दूर करना। दुनिया के अधिकांश लोग जड के योग (संयोग) में सुख मान रहे हैं। इस विसंगति के कारण विश्व की अनंत आत्माएं अनंतकाल से सुख की प्राप्ति के लिए अनेकविध प्रयत्न करने पर भी सुख नहीं पा रही हैं और दुःख से मुक्त नहीं हो रही हैं। आज दुनिया के लोग जड के आकर्षण में लुब्ध हो गए हैं, जबकि महापुरुष हमें आत्मा के प्रति आकर्षण पैदा करने का उपदेश दे रहे हैं। 'आत्मा के साथ जड की एकता ही दुःख का मूल है', इस परम सत्य को समझे बिना वास्तविक धर्म की आराधना संभव नहीं है। जड का आकर्षण दूर किए बिना तथा आत्मा का आकर्षण पैदा किए बिना स्व-पर कल्याण की साधना शक्य नहीं है। यह सब जानने पर भी अधिकांश लोगों को आत्म-हित की चिन्ता नहीं होती है और जड का मोह दूर नहीं होता है, यह भयंकर अज्ञानता ही है।

मानव भव की सार्थकता

सभी धर्म शास्त्रों ने मनुष्य जन्म की महत्ता गाई है। 'मनुष्य जन्म श्रेष्ठ जन्म है', यह सभी कहते हैं, परन्तु इस जन्म की महत्ता किस कारण है, यह विचारणीय है। मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक इन चार गतियों में से केवल मनुष्य गति को ही सर्वाधिक उत्तम या श्रेष्ठ बताया गया है तो यह इन्द्रियों के विषय-भोग की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि मनुष्य लोक की अपेक्षा देवलोक में इन्द्रिय-सुखसामग्री बहुत ज्यादा है। देवलोक में जिस शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श की सामग्री का योग है, मनुष्य लोक में नहीं है। वहां अकल्प्य वैभव और भोगोपभोग की विपुल सामग्री है। स्वच्छन्द आहार, विहार और भय आदि तो मनुष्य में होते हैं, उसी तरह पशुओं में भी होते हैं। नारक जीव केवल दुःखमय दशा का अनुभव करते हैं, इसलिए उनकी बात करने का तो कोई अर्थ नहीं है।

मनुष्य लोक में देवलोक जैसी भोग-सामग्री नहीं है, फिर भी मनुष्य भव श्रेष्ठ माना गया है, इससे यह तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रिय-सुख या भोग-सामग्री की अपेक्षा से मनुष्य जन्म की श्रेष्ठता नहीं है। तो फिर मनुष्य जन्म की महत्ता किस कारण है? जिस कारण से मनुष्य जन्म की महत्ता है, उस कारण को ही साधा जाए, तभी तो मनुष्य-जन्म की सफलता होगी। मनुष्य जन्म को श्रेष्ठ बताने वाले उपकारी महापुरुष इस जन्म की उत्तमता बताते हुए मनुष्य जन्म को सफल बनाने का मार्ग भी बतलाते हैं।

मनुष्य जन्म की महत्ता विवेक के कारण है। तिर्यंचों में यह विवेक आना मुश्किल है। कदाचित् आ जाए तो भी मनुष्य विवेक को जितना आचरण में ला सकता है, उतना तिर्यंच नहीं ला सकता। देवताओं में भी उस प्रकार के त्याग का आचरण संभव नहीं है। मनुष्य ही आत्मा और शरीर का विवेक कर सकता है। मनुष्य जड-चेतन के स्वरूप को समझ सकता है। आत्मा के कल्याण-अकल्याण का विवेकपूर्वक विचार और आचरण मनुष्य ही कर सकता है। तिर्यंचों के लिए विवेक का आचरण सर्वथा असंभव नहीं है, परन्तु जितना आचरण मनुष्य कर सकता है, उतना तिर्यंच नहीं कर सकता है। यद्यपि देव समझते हैं, किन्तु मनुष्य की तरह सम्पूर्ण आचरण करने में वे असमर्थ हैं। मनुष्य समझ भी सकता है और आचरण भी कर सकता है। जड-चेतन का जो वास्तविक स्वरूप है, उसे यथार्थ रूप से समझना और चेतन को जड के संयोग से दूर करने का प्रयत्न करना, अपने आत्म-स्वरूप को प्रकट करना, कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर, जन्म-मरण के चक्र से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाना, यह सिर्फ मनुष्य जन्म में ही संभव है और ऐसा करने में ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। जो मनुष्य विवेक रहित होकर भोग में लीन बना रहता है, उसमें और पशु में क्या भेद रहता है?

जैन किसे कहा जाए?

जैन अर्थात् अपनी आत्मा को जड के अनादिकालीन योग से मुक्त बनाने के लिए अनंतज्ञानी वीतराग परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर पूर्ण श्रद्धालु आत्मा और यथाशक्य उस पर चलने के लिए प्रयत्नशील आत्मा। इसमें साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका चारों आ जाते हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चारों अपनी आत्मा को अनादिकालीन जड के संयोग से मुक्त बनाने की अभिलाषा वाले होते हैं। अनंतज्ञानी जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट जड-चेतन के स्वरूप तथा जड से चेतन को अलग करने के मार्ग पर ये चारों श्रद्धालु भी होते हैं। इस अभिलाषा और श्रद्धा के बल से ये जिनेश्वर देव की आज्ञा को अपने जीवन में, आचरण में लाने के लिए प्रयत्नशील भी होते हैं। इन

चारों की सामूहिकता, यानी चतुर्विध श्री संघ अर्थात् मोक्षमार्ग पर श्रद्धावान् तथा उस मार्ग पर यथाशक्य आचरण करने वाला श्री संघ।

जैन का अर्थ ही है- 'अपनी आत्मा को जड के अनादिकालीन संयोग से मुक्त करने के लिए श्री जिनेश्वर की आज्ञा पर श्रद्धा रखकर आज्ञानुसार चलने के लिए इच्छुक आत्मा।' जैन कुल में जन्मा हुआ ही 'जैन' होता है, ऐसा नियम नहीं है। जो कोई आत्मा ऐसी अभिलाषा और श्रद्धापूर्वक जिनाज्ञानुसार अपनी आत्मा को जड के अनादिकालीन संसर्ग से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील होती हैं, वे सब जैन हैं। उपकारी महापुरुषों का फरमान है कि दुनिया के सभी जीव इस प्रकार के जैन बनें। दुनिया के जीवों को जो सुख चाहिए, वह सच्चे जैन बने बिना मिलने वाला नहीं है। दुःख का अन्त भी इसके बिना शक्य नहीं है। दुनिया के जीवों की दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति के लिए ही उन महापुरुषों ने मोक्ष-मार्ग बतलाया है। वे महापुरुष जानते हैं कि जब तक आत्मा जड के अनादिकालीन योग से और भोग से मुक्त नहीं बनेगी, तब तक आत्मा सच्चे सुख को प्राप्त नहीं कर सकेगी।

'धर्म का मूल दया है', इस बात को सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु दया किसकी? मात्र दीन-दुःखी जीवों की ही दया या अपनी आत्मा की भी दया? आजकल लोग बाह्य दया की उपासना में आत्मा की दया भूल गए हैं, इस कारण दया, दया के रूप में न रहकर हिंसा रूप बन जाती है। सच्चा दयालु वह है, जिसके दिल में अपनी आत्मा की दया है। जिसके दिल में आत्मदया नहीं है, उसके दिल में अन्य जीवों के प्रति श्रेष्ठ कोटि की दया पैदा हो ही नहीं सकती है। आत्म-दया रहित जीवदया प्रायः स्वार्थप्रधान होती है। सिर्फ बाह्य दया के उपासक, दया के नाम पर अन्य जीवों को भयंकर नुकसान पहुंचा देते हैं। आत्म-दया के ज्ञान के अभाव में दुनिया के लोग अपनी आत्मा को जड की सेवा में जोडकर अपने आत्म-हित का हनन करते हैं। वे अपने संबंधी, आश्रित व मित्रों को भी जड-रसिक बनाकर उनके भी आत्म-हित को नुकसान पहुंचाते हैं। सच्चा जैन, सच्चा दयालु तो जड के संसर्ग से अपनी आत्मा को मुक्त बनाने के लिए महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग में अपनी आत्मा को जोडता है और दूसरों को भी जड के संयोग से मुक्त बनाने के लिए महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से जोडता है।

आत्म-हित का हनन न करें

यह आर्य देश है! जहां आत्मा का विचार सतत चलता रहता था। आज आत्मा को लगभग भुला दिया गया है। देह के सुख की अत्यधिक चिंता है और आत्मा का विचार भी नहीं है। जो आत्मा परलोक में से इस देह में आई है और यह देह छोड कर परलोक में जाने वाली है, उसका विचार भी नहीं और जो देह यहां पडा रहने वाला है, राख में खाख होने वाला है, उसके सुख के लिए रात-दिन मेहनत! यह कैसी दशा? आत्मा अमर है या देह? आत्मा अमर है और देह नाशवंत है। फिर भी नाशवंत के पागलपन में आत्मा का क्या होगा, यह चिन्ता ही भुला दी गई है। अपना क्या और पराया क्या, ऐसा विचार ही कहां है? जो अपना है उसे और जो पराया है उसे वास्तविक रूप में समझने वाला पराये के मोह में अपने आत्म-हित का नाश करे, यह कहां तक उचित है? पराये का आकर्षण बढ जाए या निरुपाय से आत्म-हित का हनन हो, इस परिस्थिति में भी दुःख हुए बिना न रहे। सच तो यह है कि आपको अपना क्या और पराया क्या, उसका भान ही नहीं है। जो पराया है, उसे अपना मानकर भान भूले हैं। इस कारण चौबीसों घण्टे दुनियावी कार्यों में लगे रहते हैं। आत्मा अपनी होते हुए भी उसकी लेशमात्र भी चिन्ता नहीं है।

आप लोग जैन कुल में जन्में हैं, इस बात को छोड देंगे, जैन धर्म के संस्कार छोड देंगे, तो 'आप जैन हैं', यह सिद्ध करने के लिए आप के पास क्या साधन है? वास्तविक देव, गुरु और धर्म को आप पहचानते हैं? आज कई लोग कहते हैं कि सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का विचार करने के लिए हमारे पास समय नहीं है, परन्तु यह बात गलत है। अहंकार छोडकर कहो कि सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का विचार करने के लिए समय नहीं है या इच्छा नहीं है? दिन में गप्पे लगाने में, पराई पंचायत करने में तथा अनावश्यक बातों में कितना समय निकालते हैं? अनावश्यक बातों में जो समय चला जाता है, उसका आधा भी समय इस विचार के लिए निकालने के लिए तैयार हैं? ' आत्मा-आत्मा ' सिर्फ बोलते हो या हृदय से मानते हो। यदि आत्मा को मानते होते तो, यह दुर्दशा होती क्या?

जैन अर्थात् आत्मा के कल्याण के लिए कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को छोड सुदेव, सुगुरु और सुधर्म को भजने वाला। परन्तु, आज तो सबकुछ चलता है, क्योंकि आत्मा का विचार ही नष्ट हो गया है। देव-गुरु और धर्म के स्वरूप का ही खयाल नहीं है। स्वार्थ के लिए जिस-किसी देव-देवी की पूजा कर लेते हैं। जैसे-तैसे वेशधारी को भी गुरु मान लेते हैं और कुलाचारों के पालन में ही धर्म मान लिया जाता है। आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो अपनी झूठी मान्यता को बदलो, ज्ञानियों ने जो स्वरूप बताया है, उसका अभ्यास करो और ज्ञानियों की आज्ञानुसार आचरण करने के लिए प्रयत्नशील बनो। इससे आपकी आत्मा का कल्याण होगा और क्रमशः शाश्वत सुख का धाम 'मोक्ष' प्राप्त कर सकोगे।

साधु जीवन के इच्छुक बनो

आप अपने संतान, संबंधी, मित्र व आश्रितों का भला चाहते हैं। इस इच्छा से आप थोडा-बहुत प्रयत्न भी करते हैं, लेकिन क्या वह उचित और पर्याप्त है? इस भव में वे सभी सुखी हों, ऐसी आपको चिन्ता है, परन्तु परभव में उनका क्या होगा, यह चिन्ता है? उनकी आत्मा के कल्याण का विचार या प्रयत्न आपने किया है? ये यक्ष प्रश्न हैं, जिन पर आपको पूरी गम्भीरता और विवेक के साथ विचार करना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि आपको जब अपने ही कल्याण का विचार नहीं आता हो तो वहां दूसरों के कल्याण का तो विचार भी कहां से आए? यह स्थिति आप के जैनत्व के लिए लाँछनरूप है।

जैन कुल में जन्म लेने से सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की सरलता से आराधना हो सकती है, ऐसी सामग्री आपको मिली है। यह सब मिलने पर भी यदि आप अपने जैनत्व का विचार न करें और सिर्फ जड के आकर्षण में ही फंसे रहें तो यह स्थिति आप के लिए अत्यंत शोचनीय है। आज जड के आकर्षण में लोग इतने अंधे हो गए हैं कि साधुओं की सेवा द्वारा भी आत्मसुख की इच्छा न रखकर दुनियावी सुख-सामग्री की ही इच्छा रखते हैं। धीरे-धीरे परिस्थिति इतनी बिगड रही है कि लोग सच्चे जैनत्व को भी भूलते जा रहे हैं। मात्र जैन कुल में जन्में इसलिए जैन, इस बात को भूलकर सच्चे जैन बनो, जड के योग से अपनी आत्मा को मुक्त बनाने के लिए तत्पर बनो। इसके लिए अनंतज्ञानी जिनेश्वर देव की आज्ञानुसार जीवन जीने के लिए प्रयत्नशील बनो। जड का योग ही दुःख का कारण होने से यथाशक्य जड वस्तुओं का त्याग करो और आत्मा के मूल स्वभाव का अभ्यास हो, ऐसा जीवन जीने के लिए प्रयत्नशील बनो। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सर्वोच्च साधना साधु जीवन में ही शक्य है। श्रावक तो ऐसे जीवन के लिए तरसता है। साधु जीवन का प्रेम जगेगा, तभी श्री जिनेश्वर देव और उन तारकों की आज्ञानुसार जीवन जीने वाले

सद्गुरुओं के प्रति वास्तविक भक्ति-भाव प्रकट होगा। तभी आप लोग सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के सच्चे उपासक बन सकोगे। इसके बिना सच्चे जैनत्व की प्राप्ति नहीं होगी और यह भव भी व्यर्थ चला जाएगा।

संयम की भावना, यह तो जैन समाज में सामान्य बात होनी चाहिए। जैन संयम की भावना से रहित हो, यह कैसे हो सकता है? परन्तु आज तो संयम की बात भी कडवी लगती है, क्योंकि आप में जैनत्व रहा ही नहीं है। वृद्ध भी जिन्दगी के अंत समय तक असंयमित जीवन रखकर नई पीढी पर गलत छाप डाल रहे हैं। आज वातावरण इतना अधिक बिगड गया है कि कोई दुराचारी बन जाए तो किसी को परवाह नहीं है, परन्तु कोई साधु बन जाए तो अज्ञानी व्यक्ति भी संबंधी बनकर अनेक विघ्न खडे कर देता है। अनाचार से द्वेष के बजाय साधुता का द्वेष, यह बडे दुर्भाग्य की निशानी है। जैन समाज को यह शोभा नहीं देता है। जैन समाज में तो आत्म-सुख को ही प्रधानता होनी चाहिए। यदि सभी जैन सच्चे जैन बन जाएं तो अनेक आत्माएं जैन शासन की शरण पाकर अपना कल्याण कर सकती हैं। प्रत्येक गांव में 10-10 श्रावक भी सच्चे जैन बन जाएं तो एक दशक में जैन समाज का कायाकल्प हो सकता है।

सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का स्वरूप

अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का आलंबन लेना चाहिए। सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की शरण स्वीकार करने वाली आत्मा अंत में अवश्य परमात्म-पद प्राप्त करती है। जैसे-तैसे को देव मानने से मुक्ति का साध्य सिद्ध नहीं होगा। जिस देव के आलंबन से मुक्ति की साधना करनी हो, वे देव स्वयं मुक्त न हों तो मुक्ति की प्राप्ति कैसे संभव है? राग और द्वेष से ग्रस्त हों, उन्हें पूजने से वीतरागता कैसे प्राप्त होगी? भक्ति से तुष्ट होने वाले और विरोधी पर रुष्ट होने वाले तथा कामिनी आदि का परिग्रह रखने वाले सुदेव कैसे कहला सकते हैं? देव तो वीतराग हों, स्वयं बुद्ध हों और निरुपाधिक हों; वे ही मुमुक्षुओं के लिए आदर्श रूप हैं, क्योंकि शुद्ध आत्म-दशा पाने के लिए वैसा ही शुद्ध आलंबन चाहिए। परमात्मा किसी को मोक्ष देते नहीं हैं, किन्तु स्वयं मुक्तावस्था में होने के कारण मुमुक्षुओं के लिए ध्येयरूप हैं। उन तारकों ने मुक्त बनने का मार्ग बताया है, इस कारण वे मुक्ति-दाता भी कहलाते हैं।

वीतराग परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने में प्रत्यक्ष सहायक सदगुरु हैं। उनका भी आलंबन आवश्यक है। सदगुरु वे ही कहलाते हैं जो सुदेव की आज्ञा को समर्पित हों। सुदेव की आज्ञानुसार पांच महाव्रतों को धारण कर निर्ग्रंथ रूप में विचरण करने वाले हों और अपनी शक्ति अनुसार जगत में एक मात्र मोक्ष मार्ग का प्रचार करने वाले हों। हिंसादि पापों का सेवन करने वाले, पापोपदेश देने वाले, धन आदि का परिग्रह रखने वाले सदगुरु नहीं कहला सकते। त्यागी का दिखावा हो, किन्तु अर्थ-काम की वासना बढाने वाले हों, वे भी सदगुरु नहीं कहलाते।

इसी प्रकार इच्छानुसार मान लिए धर्म को सद्धर्म नहीं कहा जाता, बल्कि सुदेव निर्दिष्ट धर्म को सद्धर्म कहा जाता है। सद्धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। सम्यग्दर्शन अर्थात् वीतराग परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग पर श्रद्धा। 'जड का योग ही दुःख का मूल है', यह सम्यग्दर्शनी मानता है, इस कारण वह मनुष्य लोक और देवलोक के पौद्गलिक सुखों को भी तुच्छ मानकर उनकी इच्छा भी नहीं करता है। श्री वीतराग परमात्मा ने जड और चेतन का जो स्वरूप बताया है उसका तथा चेतन को जड से मुक्त बनाने के मार्ग का ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन और

सम्यग्ज्ञान के होने मात्र से मुक्ति नहीं मिल जाती है, साथ में सम्यग्चारित्र भी चाहिए, तभी धर्म का स्वरूप पूरा बनता है। सम्यग्चारित्र अर्थात् संसार का त्याग कर, आत्मा के मूल स्वभाव को प्रकट कराने वाले सद्नुष्ठानों का आचरण और उसके लिए देह की ममता का भी त्याग। देहरूपी पींजरे में आत्मा परतंत्र रही हुई है। जब तक देह का संयोग है, तब तक दुःख है। देह से रहित बनना ही मुक्त अवस्था है। सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का यही स्वरूप है और इनका आलम्बन ही मोक्ष का परम् सुख देने वाला है।

धर्म का ध्येय

अनंतज्ञानी जिनेश्वर भगवंत फरमाते हैं कि 'समस्त सुखों का मूल धर्म है।' परन्तु दुनिया के लोग सुबह उठते ही सोचते हैं कि 'आज कैसे कमाई करूं और क्या-क्या भोग करूं ?' इस अर्थ-काम की चिन्ता के कारण धर्म-प्रवृत्ति तो नहींवत् होती है। चूँकि लोगों ने देह के सुख में ही सुख मान लिया है, भौतिक पदार्थों, पौद्गलिक चीजों में ही सुख मान लिया है; आत्मकल्याण की चिन्ता करने वाले बहुत थोडे हैं, इसलिए ऐसी बात सोचने वाले तो विरले ही होते हैं कि 'आज मुझे कौनसे पाप नहीं करने हैं और कौनसा धर्माचरण करना है या कौनसे त्याग-पचक्खाण करने हैं।' क्योंकि सभी को बाह्य सुख की ही इच्छा है, इस कारण आत्मा की चिन्ता करने वाले विरले ही हैं। आत्मकल्याण की बातें करने वालों में से भी आत्मकल्याण के यथार्थ स्वरूप को समझने वाले तो और भी बहुत थोडे ही हैं।

'धर्म से कल्याण और पाप से अकल्याण', इस प्रकार बोलने वालों में से भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो पाप करने में कमी नहीं रखते हैं और वास्तविक धर्म का आचरण ही नहीं करते हैं। कई लोग धर्म करते हैं तो दुनियावी लालसाओं के अधीन बनकर। अर्थ और काम की प्राप्ति के ध्येय से धर्म का आचरण करने वाले एक अपेक्षा से पाप को ही बढा रहे हैं, क्योंकि धर्म का सच्चा ध्येय अर्थ-काम को बढाने का नहीं है, बल्कि अर्थ-काम की आसक्ति से मुक्त होने का है। अर्थ-काम की वासना पाप वासना है और अर्थ-काम के लिए प्रयत्न पाप प्रयत्न है। यह बात समझ में आए तो अर्थ-काम के लिए किए धर्म से पाप का बंध कैसे होता है, यह समझ में आ सकता है।

धर्म करने से अच्छा फल मिलता है, परन्तु इस प्रकार किए गए धर्म से उपार्जित पुण्य, आत्मा को बरबाद कर दे तो भी कोई आश्चर्य नहीं होगा। अतः धर्म के सच्चे ध्येय को समझकर ही धर्म करना चाहिए, जिससे पाप की संभावना न रहे और आत्मसुख की अवश्य प्राप्ति हो। धर्म के योग से दुनियावी सुख नहीं मिलते हैं, ऐसा नहीं है। धर्म से दुनियावी सुख भी मिलते हैं, अपार ऋद्धि-सिद्धि भी मिलती है, लेकिन वह धर्म को धर्म के नियम के अनुसार करे तो ही संसार में उत्तम कोटि के सुख भी मिलते हैं और परिणामतः मोक्ष सुख की भी प्राप्ति होती है।

'पाप से सुख नहीं मिलता है', यह निश्चित बात है। यदि पाप से सुख मिलता तो ज्ञानी महापुरुष पाप छोडने और धर्म के सेवन का उपदेश देते भी नहीं। इस भव में पाप करने पर भी कहीं दुनियावी भोग-सामग्री की प्राप्ति देखी जाती है, वह पूर्व भव के पुण्योदय का फल है। पूर्व के पुण्य का उदय न होता तो कितना ही पाप करने पर भी भोग-सामग्री नहीं मिलती। पाप के कारण भविष्य में दुःख की ही अभिवृद्धि होती है। पाप करने पर भी इस जन्म में पूर्व के पुण्योदय से भोग-सामग्री भले ही मिल जाए, लेकिन अंततोगत्वा उस पाप के फल स्वरूप भविष्य में तो दुःख बढने ही वाला है, अतः सुख-शान्ति के लिए अर्थ-काम की वासना को छोडकर धर्म करना, यही श्रेष्ठ उपाय है।

धर्म जरूरी लगता है?

अनंत उपकारी, अनंतज्ञानी जिनेश्वर भगवंत फरमाते हैं कि दुर्लभ ऐसे मानव जन्म को पाकर यदि आप कल्याण चाहते हैं तो विषयोपभोग में जीवन को बर्बाद न कर धर्म की आराधना करनी चाहिए। मुक्ति की साधना के लिए मानव भव श्रेष्ठ भव है। मुक्ति की साधना का लक्ष्य न हो तो इस भव की कोई महत्ता, कोई कीमत नहीं है। देव गति में अमाप भोग सामग्री है, फिर भी ज्ञानियों ने मनुष्य भव को उत्तम कहा, क्योंकि देवता श्रद्धालु होने पर भी भोग का त्याग कर मुक्ति मार्ग की आराधना नहीं कर सकते हैं। भोग का त्याग और उत्कृष्ट संयम का पालन मनुष्य भव में ही संभव है। इतना होने पर भी आज मनुष्य भोग का अर्थी बनकर मुक्ति के ध्येय को भूल गया है। इस कारण भोग का त्याग व संयम का सेवन करने की सलाह रुचिकर नहीं लगती है। धन-दौलत तथा इन्द्रिय सुख की आवश्यकता लगती है, लेकिन देव-गुरु और धर्म की आवश्यकता नहीं लगती है।

मनुष्य अपनी बुद्धि का सदुपयोग करे तो श्रेष्ठ कोटि की साधना भी कर सकता है और बुद्धि का दुरुपयोग करे तो इस श्रेष्ठ भव में भी ऐसे पाप कर सकता है, जिनके फलस्वरूप उसे आगामी भव में नरक की भयंकर यातनाएं सहन करनी पड सकती हैं। इतना होने पर भी 'मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? कहां मुझे जाना है? मेरा कर्त्तव्य क्या है?' इत्यादि सोचने के लिए समय ही कहां है? केवल धन-दौलत व इन्द्रिय सुखों की चिन्ता है, इसके लिए ही बुद्धि और शक्ति का व्यय होता है। लगभग पूरा समय इसी में बीत जाता है। धन-दौलत और इन्द्रिय सुख मिल जाए तो कई लोगों को देव-गुरु और धर्म की भी जरूरत नहीं है। देव-गुरु और धर्म की भी इन्द्रिय सुख पाने के लिए सेवा करते हैं।

दुनिया के लोग व्यापार आदि के लिए श्रम करते हैं, उसी प्रकार देव-गुरु और धर्म की सेवा के लिए श्रम करते हैं। दोनों के परिश्रम के मार्ग भले ही अलग हैं, दोनों का ध्येय तो एक ही है। उस ध्येय को बदलने की आवश्यकता है। 'मुझे धन, दौलत और इन्द्रिय सुख नहीं, बल्कि मुक्ति ही चाहिए', यह ध्येय निश्चित हो जाए तो ज्ञानी की आज्ञानुसार देव-गुरु-धर्म की सेवा का परिश्रम सफल हो सकता है। परन्तु, आपको मुक्ति की इच्छा कहां है? ' मुझे मुक्ति ही चाहिए ', ऐसी इच्छा होती है? मुक्ति की इच्छा जगे तो भोगों के प्रति अरुचि और त्याग के प्रति रुचि पैदा हो। परन्तु, वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य को दरिद्रता का दुःख खटकता है, किन्तु धर्महीनता खटकती नहीं है। माता-पिता ने अपने बच्चों को व्यावहारिक शिक्षण नहीं दिया हो तो वे बच्चे बडे होकर माता-पिता को दोष देते हैं और दुनिया भी उन मां-बाप को ठपका दिए बिना नहीं रहती, परन्तु माता-पिता ने बच्चों को धार्मिक शिक्षण नहीं दिया हो तो उन मां-बाप को दोष देने वाले कितने? व्यावहारिक शिक्षण के प्रति आज माता-पिता जितने जागरूक हैं, क्या धार्मिक शिक्षण के प्रति उतनी जागरूकता है? आपको जब तक धर्म की जरूरत नहीं लगेगी और धर्म का वास्तविक अर्थों में आचरण नहीं करेंगे, कल्याण संभव नहीं है और यह मानव जन्म सार्थक नहीं है।

उदासीन भाव आत्मसात् करें

इस दुनिया में परमात्मा की बात करने वाले तो बहुत हैं, परन्तु परमात्मा को मानने वाले कम हैं और उनसे भी बहुत कम हैं परमात्मा की बात मानने वाले। एक ओर परमात्मा का नाम लेना और परमात्मा की पूजा करना तथा दूसरी ओर परमात्मा द्वारा निषिद्ध पाप के त्याग का विचार भी नहीं करना, परमात्मा द्वारा धर्म के आचरण की आज्ञा होने पर भी जीवन में धर्म का आचरण नहीं करना; इस तरह से परमात्मा की आज्ञा की अवज्ञा करना, क्या ऐसे व्यक्ति के लिए हम कह सकते हैं कि

वह परमात्मा की मानता है? परमात्मा की पूजा करने पर भी जो परमात्मा की आज्ञा की अवगणना करता है, वह वास्तव में परमात्मा का सेवक नहीं है।

जहां परमात्मा की बात मानने वाले कम हों, वहां पर परमात्मा की आज्ञानुसार विचरण करने वाले संसार त्यागी और संसार त्याग का ही उपदेश देने वाले सुसाधु कम हों, यह स्वाभाविक है। आज जो प्रभु की पूजा, गुरु भगवंतों के स्वागत और थोडी-बहुत धर्म क्रियाएं होती हैं, वह सब अधिकांशतः कुलाचार के कारण होती है। सिर्फ आत्म-कल्याण के ध्येय से प्रभु-पूजा, गुरु-सेवा तथा धर्म आराधना करने वाला वर्ग बहुत थोडा है। आपका नम्बर किसमें है? आप स्वयं तय करें। मैं तो चाहता हूं कि आप लोग देव-गुरु-धर्म के सच्चे सेवक बनें। जिसके फलस्वरूप देव-गुरु-धर्म की सेवा आपको फलीभूत हो और इस भव में नहीं तो अगले जन्म में सच्चे संयम को प्राप्त कर कर्म-बंधन से मुक्त बनो।

यह तभी संभव है जब आत्म-हित का भान हो। 'दुनियावी वस्तुएं चाहे जितनी प्राप्त हो जाएं, परन्तु उससे आत्मा का सच्चा सुख मिलने वाला नहीं है', इस बात का निर्णय हो जाना चाहिए। आत्मा का सुख, आत्मा को छोड अन्य किसी वस्तु में नहीं है। आत्मा शाश्वत है, आत्मा का सुख भी शाश्वत है। आत्मा पर आवृत्त कर्मों की मलीनता दूर होने पर ही वह सुख मिल सकता है। आत्मा की मलीनता दूर करने के लिए पाप से पीछे हटना चाहिए और धर्म में दृढ बनना चाहिए।

संसार के सम्पूर्ण त्याग का पूर्ण सामर्थ्य न हो तो भी 'दुनियावी वस्तुओं में सुख है', इस भ्रम को छोडकर मोक्ष-सुख के अर्थी बनकर यथाशक्य धर्म करो। 'दुनिया की सभी वस्तुएं आत्मा से भिन्न हैं। पर-वस्तुओं के साथ आत्मा का संबंध ही सच्चे सुख की प्राप्ति में बाधक है।' यह बात हृदय में जच जाए तो भी व्यक्ति संसार में रह कर उदासीन-भाव पा सकता है। यह भाव आ जाए तो दुःख के संयोगों में भी आत्मा समाधिभाव में रह सकती है। भयंकर दुःखों में भी धर्म से सच्ची शान्ति मिल सकती है और अनेक अनुकूलताओं के बीच भी पापोदय व्यक्ति को दुःखी कर सकता है। अतः देव-गुरु-धर्म के सच्चे उपासक बनो ताकि आत्मा का अहित टल जाए और कल्याण हो जाए।

पाप का भय पैदा करो

शरीर की गंदगी को सभी देखते हैं, परन्तु भीतर की गंदगी तो हम स्वयं या ज्ञानी ही देख सकते हैं। 'मैं भीतर से कैसा हूं?' यह देखने की आपको फुर्सत है? बाहर का गुनाह बडा या भीतर का? बाहर से साहूकार दिखने वाले और भीतर से गुनहगार, मरकर अच्छे स्थान में जाएंगे, ऐसा कौन कह सकता है? कोई आदमी बाहर से बुरा काम करेगा तो उसे खराब कहने वाले बहुत मिल जाएंगे, परन्तु भीतर से खराब है और अच्छा दिखाने का दंभ करता है, ऐसे व्यक्ति का उद्धार असंभव है। अन्तर में अत्यधिक मलीनता और उसे छुपाने के लिए इतना अधिक दंभ क्यों? इस जिन्दगी में अपने को अच्छा दिखाने के लिए न? जिन्दगी पूरी हो जाने वाली है, इसमें कोई शंका नहीं है। इस जिंदगी में जितना बुरा करोगे, उसका बुरा फल भी भुगतना पडेगा, यह भी निश्चित है। अतः अन्तर का मेल दूर करने का प्रयत्न करो। बाहर से नहीं, अपितु मन से शुद्ध बनो। जिसका मन मलीन नहीं है, वह बाहर से मलीन होगा तो भी उसका कल्याण हो जाएगा, परन्तु जिसका मन मेला है, वह बाहर से स्वच्छ होगा तो भी उसका कल्याण होने वाला नहीं है।

'पाप का फल अवश्य भुगतना पडेगा', यह बात जच जाए तो पाप का डर पैदा हुए बिना नहीं रहेगा। सेठ नौकर को तथा बलवान कमजोर को परेशान करता है। भले ही सेठ के सामने नौकर व बलवान के सामने कमजोर कुछ नहीं कर पाता है, परन्तु उसके मन में तो यह विचार आता ही है कि

'इनका कभी भला नहीं होगा'। कदाचित् पाप के फल से आप यहां बच जाओगे, परन्तु उसका फल कहीं तो भुगतना ही पडेगा। उस समय आप यह क्यों नहीं सोचते हो कि 'यदि मैं किसी के दुःख में भागीदार बनूंगा तो इसका बदला मुझे भविष्य में अवश्य मिलेगा'। यदि इतना भी खयाल आ जाए कि स्वार्थ के लिए हिंसा, झूठ, चोरी करना, लोभ के अधीन होकर बुरे काम करना, इन सबका फल अवश्य मिलने वाला है, तो फिर पाप का डर पैदा हुए बिना नहीं रहेगा।

भौतिक सुख में पागल व्यक्ति को आज पाप का डर नहीं है, परन्तु लोगों का डर है। सत्य तो यह है कि जो इंसान पाप से नहीं डरता, वह इंसान, इंसान नहीं है। जिसे पाप का भय नहीं, वह धर्म पाने के लिए योग्य नहीं। जिसे पाप का भय नहीं, वह व्यक्ति संत-महापुरुषों का सानिध्य पाने के लिए भी योग्य नहीं है। निष्पाप और धर्ममय जीवन जीने के लिए पाप का भय तो प्राथमिक आवश्यकता है। पाप का भय बहुत बडा गुण है। जिसे पाप का भय है, वह व्यक्ति स्वतः अच्छा बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को पाप करने का प्रसंग आएगा तो पहले तो वह बुरा काम करेगा ही नहीं, कदाचित् करना पडा तो थोडा करेगा और वह भी दुःखी हृदय से और करने के बाद भी वह पश्चाताप करेगा, जिससे उसके पाप की निर्जरा होगी और वह पाप से निवृत हो जाएगा।

समस्त विश्व का कल्याण हो, यही सुसाधु की भावना हो

'समस्त विश्व का कल्याण हो', इस पवित्र भावना के साथ 'मेरे कारण किसी जीव का अकल्याण न हो जाए', ऐसी भावना रखते हुए सुसाधु धर्ममय जीवन जीते हैं और आवश्यकतानुसार जगत के जीवों को कल्याण का मार्ग बतलाते हैं। सुसाधु जगत के जीवों को 'पाप छोडो और धर्म का सेवन करो', यही उपदेश देते हैं, क्योंकि पाप के त्याग बिना दुःख-मुक्ति नहीं और धर्म के आचरण बिना सुख-प्राप्ति नहीं। पाप मात्र से अलिप्त रहने के लिए तथा धर्ममय जीवन जीने के लिए इन्द्रियों का निग्रह, संयम पालन, पाप-संग त्याग करना पडेगा और वीतराग परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट क्रियाओं में अप्रमत्तभाव से रमण करना पडेगा। संसार में सर्वश्रेष्ठ यही जीवन है। ऐसे त्याग और संयम में ही सच्ची गुरुता रही हुई है। सच्ची गुरुता के अभाव में गुरु बनकर बैठे हुए न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और न ही दूसरों का। सिर्फ नाम से नहीं, गुणों से गुरु बनो। गुरु बनने की इच्छा के बजाय साधुता पाने की इच्छा करो। भोग का त्याग और संयम का सेवन, सिर्फ सिद्धान्त की तरह जानने की वस्तु नहीं है, बल्कि उसका आचरण होना चाहिए।

आजकल लोगों को सुख चाहिए, किन्तु संयम पसंद नहीं है। 'सच्चा सुख कहां है और कैसे मिल सकता है', यह सोचने के लिए फुर्सत नहीं है। जिन प्रवृत्तियों से किसी को सुख नहीं मिला है, वे प्रवृत्तियां गतानुगतिकता से हो रही हैं। 'दूसरे को भले ही दुःख हो, मुझे सुख मिलना चाहिए', यह वृत्ति बढ रही है। अपने सुख के लिए हम दूसरों को दुःखी करें तो हमें सुख मिलेगा या दुःख? यह भी विचार नहीं आता है। सच्चे कल्याण साधक वे हैं, जो अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख नहीं देते हैं। पाप से बचने के लिए किसी महात्मा ने सुन्दर उपाय बतलाया है-

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

जो वर्तन अपनी आत्मा के लिए प्रतिकूल हो, वह आचरण दूसरों के प्रति न करें। अपने को कोई दुःख दे, यह हमें पसंद नहीं है तो हमें भी किसी को दुःख नहीं देना चाहिए। कोई अपने साथ झूठ बोले तो हमें पसंद नहीं, अतः हमें भी झूठ नहीं बोलना चाहिए और चोरी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार हर बात में समझ लें और विवेकी बनकर आचरण करेंगे तो सारा जीवन सुधर जाएगा। जीवन

में पाप दूर होगा और धर्म आएगा। धर्म के विषय में अनेक मतभेद हैं, किन्तु वास्तविक धर्म वही है जो आत्मा को समस्त कर्मों से मुक्त कर आत्मा के निर्मल स्वरूप को प्राप्त कराए। आत्मा के मूल स्वरूप को पाने के लिए ही धर्म करना चाहिए अर्थात् हिंसादि पापों का मन, वचन और काया से करने, कराने और अनुमोदना करने का त्याग करना चाहिए। आत्मा को अनंतज्ञानी की आज्ञा के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। वीतराग परमात्मा की आज्ञा की आराधना में ही कल्याण है, इस बात को किसी को नहीं भूलना चाहिए, न साधु को और न ही श्रावकों को।

श्रमण धर्म की श्रेष्ठता

देव जीवन, मानव जीवन, पशु जीवन और नर्क जीवन, इन सभी में मानव जीवन ही श्रेष्ठ है। मानव जीवन में भी यथेच्छ जीवन, मार्गानुसारी जीवन, सम्यकदृष्टि जीवन, देशविरतिरूप गृहस्थ जीवन और सर्वविरतिरूप श्रमण जीवन में श्रमण जीवन ही श्रेष्ठ जीवन है;

- जिस जीवन में जीने के लिए एक भी पाप करने की आवश्यकता नहीं है।
- जिस जीवन में किसी भी जीव को थोडा भी दुःख नहीं पहुंचाया जाता/दिया जाता।
- जिस जीवन में थोडा-सा भी झूठ नहीं बोला जाता।
- जिस जीवन में तृणवत् तुच्छ चीज की भी चोरी संभव नहीं है।
- जिस जीवन में पांचों इन्द्रियों के समग्र विषय सुखों का विरागपूर्वक सम्पूर्ण त्याग करना होता है।
- जिस जीवन में तिलतुष मात्र भी परिग्रह का अवकाश नहीं होता।
- जिस जीवन में पल-पल दोषशुद्धि और गुणवृद्धि की साधना करनी होती है।
- जिस जीवन में आत्मा को परमात्म पद में प्रस्थापित करने का प्रकृष्ट पुरुषार्थ प्रवर्तमान होता है।
- जो जीवन विश्व के लिए प्रेरणारूपी प्याऊ जैसा है।
- जिस जीवन में विश्व शान्ति के बीज बोए गए हैं, जिसकी परिपूर्ण साधना अनादिकर्म के बंधनों को तोडकर आत्मा को परमात्मा बनाता है, ऐसा जीवन अर्थात् श्रमण जीवन।
- जो जीवन देवों के अधिनायक के लिए भी इच्छनीय, स्पृहणीय, आदरणीय होता है। देवता भी सदा कामना करते हैं कि ऐसे जीवन की प्राप्ति कब हो?
- जो जीवन सभी प्रकार के कर्मों का क्षय करके, अरिहंत और फिर सिद्धावस्था की ओर ले जाता हो, जहां अक्षय सुख, अक्षय शान्ति और अक्षय आनन्द हो।

क्या आप सारे दुःख-दर्द, संसार की झंझटों और रोजमर्रा के क्लेशों, छल-कपट, झूठ-प्रपंच से मुक्त होकर ऐसे जीवन की कामना करते हैं? क्या आप ऐसा जीवन जीना चाहते हैं? क्या आप परम् सुख, परम् शान्ति और परम् आनंद पाना चाहते हैं? यदि हां, तो फिर देर किस बात की? आपको आर्यदेश, मानव जीवन, जैन कुल, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म का योग मिला है, यही सही वक्त है, जब आप अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने की साधना कर सकते हैं। अगले जन्म में फिर ये सब सुयोग मिलेंगे, इस बात की कोई गारंटी नहीं है।

जीवन को सफल बनाने का उपाय

वीतराग परमात्मा की आज्ञा को समझने के लिए तथा उन आज्ञाओं के पालन के लिए श्रेष्ठ भव मनुष्य भव ही है। यदि संकल्प किया जाए तो अन्य सभी भवों की अपेक्षा इस भव में सच्चे सुख की विशिष्ट साधना हो सकती है। यह तो सभी जानते हैं कि दुःख का मूल पाप और सुख का मूल

धर्म है। 'पाप बिना दुःख नहीं आता और धर्म बिना सुख नहीं मिलता है', यह सभी की मान्यता है। अतः सुख पसंद हो तो दुःख के मूल पाप से दूर रहना चाहिए और दुःख के कारणों को नष्ट करने के लिए धर्म-सेवन में अप्रमत्त बनना चाहिए। संक्षेप में कह सकते हैं कि जीवन को निष्पाप और धर्ममय बनाना, यही सच्चे सुख की साधना का उपाय है। मनुष्य जीवन को सफल बनाने का यही एक मार्ग है।

आज विचारहीनता बढ गई है। इस कारण सुखी होने की अभिलाषा होने पर भी निष्पाप व धर्ममय जीवन जीने वालों की संख्या बहुत कम है। आज अधिकांश वर्ग पापमय व धर्महीन जीवन जी रहा है। इस स्थिति में सुख की तीव्र इच्छा होने पर भी दुःख दूर न हो और सुख प्राप्त न हो तो कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है। दुःख की बात है यह है कि सबको सुख की तीव्र इच्छा है और अनंतज्ञानी वीतराग परमात्मा द्वारा प्रदर्शित सुख प्राप्ति का उपाय भी विद्यमान है, फिर भी अधिकांश जीव विचारहीनता के कारण दुःख को ही बढाते हैं और ऐसे उत्तम मानव भव को हार कर सुख की सच्ची साधना से वंचित रह जाते हैं।

सभी प्राणियों में मनुष्य अभिमान पूर्वक कहता है कि 'सभी प्राणियों में मैं महान हूं', बात भी सही है। वास्तविक सुख-साधना की दृष्टि से जो शक्ति मनुष्य के पास है, वह अन्य किसी के पास नहीं है। परन्तु 'मनुष्य भव पाकर मुझे अच्छे काम ही करने चाहिए, बुरे काम बिलकुल नहीं करने चाहिए', यह आवश्यक विचार कोई करता नहीं है। वर्तमान में अधिकांश मनुष्य अपने दुनियावी स्वार्थ को ही अच्छा काम मान रहे हैं और इस कारण दुनियावी स्वार्थ को साधने में ही मग्न हैं।

कई लोग कहते हैं, 'दुनिया प्रगति के मार्ग पर तेजी से आगे बढ रही है', यह तो आत्मवंचना व परवंचना के बराबर है। अज्ञान व स्वार्थ मात्र की वृद्धि से ही आज दुनिया में अशान्ति बढ रही है। आज झूठ नहीं बोलने वाले व्यक्ति की खोज करनी हो तो दोपहर में दीपक लेकर खोज करने पर भी नहीं मिलता है, क्योंकि किसी भी संयोग में झूठ नहीं बोलने वालों की संख्या बहुत ही कम है। 'झूठ नहीं बोलने से अपने दुनियावी स्वार्थ का घात होता हो और थोडा झूठ बोल देने से दुनियावी स्वार्थ की सिद्धि होती हो, 'ऐसे अवसर पर भी झूठ नहीं बोलने वाला आदमी मिलना मुश्किल है। मोह-माया में फंसे लोगों ने किसी एक धर्म के लिए भी यह निश्चय नहीं किया है कि 'प्राणांत कष्ट आने पर भी अमुक धर्म का त्याग नहीं करूंगा', ऐसा क्यों हुआ है? इसका जवाब है, दुनियावी स्वार्थ की तृष्णा बढ गई और आस्तिकता चली गई। यह विपरीत मार्ग है। आस्तिक आत्मा को तो हर हालत में आत्मा, पुण्य, पाप व मोक्ष का ही विचार करना चाहिए।

पेट भरने के नाम पर पाप का सहारा

पाप सेवन में बुद्धिमत्ता नहीं है। 'पाप किए बिना पेट नहीं भरता है', यह मान्यता भी गलत है। पुण्य हो तो पाप किए बिना ही मिल सकता है और पुण्य न हो तो पाप करने पर भी मिलने वाला नहीं है। आज पेट के नाम पर कितने पाप हो रहे हैं? अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को नुकसान नहीं पहुंचाना, इतना भी करने के लिए आप तैयार हैं? कई लोगों की तो नीयत इतनी खराब होती है कि उन्हें दूसरों का हडपने में ही आनंद आता है। दूसरों का भला न हो तो चलेगा, किन्तु दूसरों का बुरा तो न करें। ऐसा करने पर भी पेट भरने को तो मिलेगा ही।

लेकिन, नहीं! क्योंकि तृष्णा अमर्यादित है। चाहे जितना मिल जाए पेट नहीं भरता। तन की भूख मिट जाए, किन्तु मन की भूख नहीं मिटती। आदमी जीर्णशीर्ण हो जाए, पर तृष्णा जीर्ण नहीं

होती। ऐसा जानने पर भी पाप करना, इसमें कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। सच यह है कि पेट भरने के लिए नहीं, अपितु पिटारा भरने के लिए पाप होते हैं। तृष्णा की अधीनता के कारण ही पाप होते हैं। इस तृष्णा का नाश धन की प्राप्ति से नहीं, संयम के राग से ही संभव है। आप के पास तो क्या समृद्धि है? पूर्व काल में अमाप सम्पत्ति को छोडकर अनेक भाग्यशालियों ने दीक्षा ली है। वे पुण्य पुरुष सुख-सम्पत्ति, समृद्धि, राजपाट सबको तुच्छ मानते थे और आप लोग उसी में मुग्ध बने हो, क्योंकि संयम का राग पैदा नहीं हुआ। आज आप तृष्णा के अधीन बनकर कौनसा पाप करने के लिए तैयार नहीं हो? कुत्ता हड्डी को चूसता है और उसके मुंह से खून निकलता है, परन्तु वह भ्रम के कारण अपना ही खून चाटने में आनंद पाता है, वैसी ही हालत तृष्णातुरों की है। भौतिक सुखों का मोह अपनी आत्मा को बर्बाद करने वाला है। अज्ञानी ही उन सुखों में मोहित होता है। जिन सुखों की प्राप्ति अपनी इच्छा के अधीन नहीं, प्राप्त सुख-सामग्री का भोग अपनी इच्छा के अधीन नहीं, प्राप्त सुख स्थिर रहेंगे, यह भी अपनी इच्छा के अधीन नहीं और अंत में उन सुखों को छोडकर जाना पडेगा। ऐसे सुखों के पीछे पागल बनकर धर्म को भूल जाना किसी तरह उचित नहीं है।

आपको जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा की आराधना का जो सुन्दर अवसर मिला है, यह मानव जीवन मिला है, उसे पौद्गलिक सुखों की तृष्णा के अधीन बनकर व्यर्थ मत गंवाईए। सर्वथा पाप का त्याग कर धर्ममय साधु जीवन जीने के लिए आप असमर्थ हैं तो कम से कम न्याय-नीति से जीवन जीएं, अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को दुःख न दें, निस्पृह बनकर दूसरों की मदद करें। सदाचारों का पालन करें। नित्य जिनपूजा और प्रत्याख्यान करें, सामायिक व स्वाध्याय करें, प्रतिक्रमण करें। पर्व-तिथि के दिनों में उपवास आदि तप करें, पौषध करें, इतना तो कर सकते हैं न? संयम की भावना पैदा करो तो यह सब संभव है। सर्वविरतिधर न बन सको तो देशविरतिधर बनो। देशविरतिधर न बन सको तो कम से कम समकिती बनो। जिनवचनों पर दृढ श्रद्धालु बनो।

सफलता के लिए चार बातें

यह मनुष्य जन्म आदि जो सामग्री आपको अपने महान् पुण्योदय से प्राप्त हुई है, उसकी सफलता आप कब और कैसे साध सकते हैं? इसकी प्राप्ति का आनंद प्राप्त हो, इतने से कार्य नहीं होगा। यह सब तो प्रारम्भिक साधन हैं। इन साधनों को आप साध्य के साधन के रूप में उपयोग करें, तभी इसकी प्राप्ति आप के लिए सफल सिद्ध होगी। महापुण्य से प्राप्त इस समग्र सामग्री की सफलता के लिए क्या-क्या करना आवश्यक है?

इस असार रूप संसार में आर्य कुल आदि सामग्री सहित दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भव्य जीवों के लिए जो त्याज्य है, उनको त्यागने का एवं जो करणीय है, वह करने का प्रयत्न करना चाहिए एवं जो-जो प्रशंसा योग्य है, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, जो-जो सुनने योग्य है, उसे ही सुनना चाहिए।

मनुष्य जन्म आदि को सफल बनाने के लिए चार बातें करनी होगी-

1. त्यागने योग्य को त्यागना होगा।
2. करणीय को करना होगा।
3. प्रशंसा की योग्यता युक्त की प्रशंसा करनी होगी एवं
4. सुनने योग्य को सुनना होगा।

आप लोगों ने कुछ त्याग नहीं किया, ऐसी बात नहीं है, परन्तु जो त्यागने योग्य है, उसका त्याग करना है। आप निष्क्रिय हैं, ऐसा भी नहीं है, परन्तु अब जो करणीय है, उसे करने में जुट जाना पडेगा।

आज स्वार्थादि के वशीभूत होकर चापलूसी करने की जो कुटेव पड गई है, उसे छोडकर जो प्रशंसा के योग्य है, उसकी प्रशंसा करनी पडेगी।

सुनने में भी मर्यादा होनी चाहिए। हर बात नहीं सुनें। जिस-तिस का नहीं सुनें। हितकारी सुने बिना रहना नहीं, ऐसा करना पडेगा।

यह सब कब संभवित हो सकता है? जब विवेक प्रकट हो।

आपको विवेकी बनाने की इच्छा है और आपकी भी विवेकी बनने की इच्छा है, ऐसा मान लूं न? क्या त्याज्य है, क्या करणीय है, क्या प्रशंसा के योग्य है, क्या सुनने योग्य है, इसका निर्णय करना है न? और उस निर्णय का अमल भी करना है न? क्यों? संसार असार है इसलिए। उससे छूटना है और मुक्ति प्राप्त करनी है इसलिए न? संसार असार लगे बिना मुक्ति की अभिलाषा जागृत नहीं होगी और उसके बिना मनुष्य भवादि की सामग्री का सच्चा मूल्य भी ध्यान में नहीं आएगा। इसलिए सर्व प्रथम यही निर्णय करो कि संसार असार है और जो करना है, विवेक बुद्धि से करना है।

मोक्ष पाना है तो मोह छोड़ो!

मोह को मारकर और मोह-मारक शासन स्थापित कर मोक्ष में पधारे हुए अरिहंतों के पास हम प्रतिदिन जाते हैं फिर भी मोह बुरा नहीं लगता, तो यह कैसे चल सकता है? सब तीर्थंकर राजकुल में उत्पन्न हुए थे, उनके पास सुख-वैभव की अपार सामग्री थी। वे उसे ठुकरा कर चले गए। उनकी तुलना में आप के पास कुछ भी नहीं, तथापि आप उसे पकडे बैठे हो, मोह का यह कैसा साम्राज्य है?

अरिहंत की आराधना करनी है तो मोह के सामने आँखें लाल करनी होगी। मोह को बढाने के लिए अनेक बार धर्म किया और मोह की मार खाते रहे। जिसे यह मोह बुरा नहीं लगता, उसके लिए तो यह मनुष्य जन्म खराब से खराब है। दुनिया जिसे अच्छा समझती है, उसे भगवान बुरा बताते हैं।

जन्म को मिटाने के लिए, जन्म न लेना पडे, ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए जो कुछ किया जाता है, वह धर्म है। मनुष्य जन्म पाकर भावी जन्म का नाश किया जा सकता है। जन्म का नाश, मतलब जन्म-मरण की परम्परा का नाश होना है। जो कुछ धर्म करना है, वह जन्म के नाश के लिए करना है।

जन्म लेने की इच्छा न हो तो सर्वविरति को स्वीकार किए बिना कोई चारा नहीं है। सम्यग्दर्शन हो तभी सम्यग्चारित्र का भाव, सर्वविरति का भाव प्रकट होता है। दुःख भोगने योग्य है और सुख छोडने योग्य है, यह सम्यग्दर्शन का मर्म है। इस मर्म को समझने के लिए सकल शिक्षण लेना यह सम्यग्ज्ञान है। सुख छोडकर दुःख भोगने के लिए तैयार हो जाना, यह सम्यकचारित्र है। इस चारित्र को पालने के लिए जगत की सब वस्तुओं से निरीह हो जाना सम्यक तप है।

धर्म के इस मर्म को समझने के बाद ही मोहाधीनता छोडकर, स्वाधीन जीवन जीने की भूमिका तैयार होती है। जो सुख में हर्षित नहीं होता और दुःख में संतप्त नहीं होता, वह स्वाधीन जीवन जीने वाला कहा जाता है। यही धर्म का मर्म है।

शरीर और इन्द्रियों के प्रति जब तक कठोरता का व्यवहार न किया जाए, तब तक कर्मों को धक्का लगता ही नहीं। शरीर को पंपोलने वाला व्यक्ति वास्तविक धर्म नहीं कर सकता। शरीर की

पूजा में से सब पाप पैदा होते हैं। आजकल शरीर की गंदगी दूर करने के लिए आत्मा में गंदगी भरी जा रही है, यह कैसी मूर्खता है? भगवान शरीर के लिए कठोर थे, इसीलिए कर्मों के प्रति कठोर बन सके। भगवान ने उपसर्गों और परीषहों को जिस प्रकार सहन किया, यह उक्त बात की साक्षी देता है। जिसे मोक्ष में जाना है, उसे अनुकूलता छोडनी होगी, मोह छोडना होगा और प्रतिकूलता को अपनाना होगा, त्याग मार्ग को अपनाना होगा।

कैसे गुरु चाहिए?

आपको कैसे गुरु पसंद होंगे? आप एक श्रीमंत के रूप में यहां आए हो और यह कहें कि यह सेठ इस गांव का अगुआ है। बहुत बुद्धिशाली है। अनेक अच्छे काम इन्होंने किए हैं। इनके सहयोग से ही मन्दिर और उपाश्रय चलता है। बाजार में भी इनकी बहुत इज्जत है। अनेक प्रवृत्तियों के बावजूद भी यहां आते हैं, बडे पुण्यशाली हैं। यह सब सुनते-सुनते कभी आपको भी लगता है कि इस गुरु में भी कुछ बुद्धि है? अच्छे-बुरे का विवेक इनमें है? बोलने-चालने का भी ढंग है? मनुष्य को ये पहचान सकते हैं?

इसके बदले गुरु यदि कहें कि आपको इतनी सामग्री मिली है, इसलिए आप भाग्यशाली तो हैं ही, लेकिन मात्र लक्ष्मी के पीछे दौड रहे हैं, इसलिए मजदूर जैसे हैं। इस अपेक्षा से आपकी दशा दयनीय है। दुःख की बात तो यह है कि आपकी आत्मा अनंत शक्तिशाली होकर भी लक्ष्मी जैसी पर वस्तु के पीछे पागल बनी है। आत्मोन्नति के लिए विचार कीजिए और इन परकीय वस्तुओं की व्यर्थ ममता छोडकर उनका सदुपयोग कीजिए। आपने चाहे जितनी सम्पदा एकत्र की हो, पर एक दिन सब यहीं छोडकर जाना पडेगा, उस दिन आपका क्या होगा? ऐसा कहने पर कदाचित् आप उसी समय निश्चय कर लेंगे कि अब ऐसे स्थान पर या ऐसे गुरु के पास फिर नहीं आना। यह तो पथभ्रष्ट साधु हैं, इन्हें तो बोलना भी नहीं आता है। सामने कौन आदमी है, उसकी कैसी प्रतिष्ठा है, यह तो देखते ही नहीं। हम नहीं होते तो इनका क्या होता, गोचरी-पानी के भी लाले पड जाते। ऐसा-वैसा नकारात्मक सोच आप के मन में उभरता और शायद उल्टा-सीधा बोल भी देते।

खरी-खरी, साफ-सच्ची बात कहने वाले धर्म गुरु उन्हीं को अच्छे लगते हैं, जिनके अन्तर में धर्म समाया होता है या जो वास्तव में अपना आत्म-कल्याण करना चाहते हैं। जो दुनियावी जरूरतों के लिए धर्म का आवरण ओढते हैं अथवा दुनिया को धोखा देने के लिए धर्मात्मा होने का ढोंग मात्र रचते हैं, उन्हें सद्गुरुओं की बात अच्छी नहीं लगती। ऐसे आदमी यदि भगवान की पूजा भी करें तो क्या उनके आगे अपने पापों का सच्चा प्रायश्चित करेंगे? पूजा में भी वे प्रदर्शन व आडम्बर ही करेंगे।

ऐसे आदमी की लक्ष्मी अचानक चली जाए तो क्या होगा? उसकी कैसी हालत होगी? उसके हृदय में भयंकर दुःख प्रकट होगा। महादुर्ध्यान से उसका हृदय जलने लगे, ऐसी दशा होगी। लेकिन, यदि धर्म साथी होगा तो देव और गुरुदेव के पास ऐसी दशा को प्राप्त नहीं होगा और लक्ष्मी नष्ट होने पर भी आपकी आत्मा चिंता में नहीं पडेगी, बल्कि आप ऐसा सोचेंगे कि लक्ष्मी 'पर' थी, छोडी नहीं जाती थी, अपने आप चली गई, ऐसी आफत में भी धर्म आश्वासन देता है। धर्म का दृढ साथ हो तो आफत में और लक्ष्मी चली जाने पर भी अशान्ति होने के बजाय आत्मा की शान्ति में वृद्धि ही होती है।

जीवन में श्वांस से भी अधिक महत्त्व धर्म का है

आपने धर्म को इतना बेकार कर दिया है कि धर्म आपकी पेढी में, हृदय में, जीवन में और घर में दिखता ही नहीं है। आप के बोलचाल में भी धर्म दिखता नहीं है। आप धर्म को अपना ऐसा साथी बना लीजिए और अपने को इतना प्रामाणिक बना लीजिए कि जब आप चलें तो लोगों को आप एक पुण्यशाली नजर आएं और उनको लगे कि सच ही, पाप और पुण्य का मेल नहीं हो सकता। याद रखिए, आप के संसार का कोई भी कार्य धर्म रहित नहीं होना चाहिए। आपकी दुकान पर आने वाले ग्राहक को भी आप पुण्यशाली लगें। कुछ पैसा बाकी भी रह गया हो तो भी विश्वास रहे कि आप के यहां से कहीं नहीं जाएगा। धर्म की आवश्यकता सिर्फ मन्दिर या उपाश्रय में ही नहीं, सर्वकाल और सर्वत्र है, सार्वभौमिक है। आप बाजार में हों या घर पर आपका आचरण दोनों जगह धार्मिक होना चाहिए, संसार की प्रत्येक क्रिया में भी धर्म का वास होना चाहिए। श्वांस लिए बिना एक भव का जीवन समाप्त होगा, परन्तु धर्म किए बिना यह भव तो बिगडेगा ही, कई और भव बिगडेंगे। इसलिए जीवन में श्वांस से भी बढकर धर्म की आवश्यकता है।

मृत्यु निश्चित है और यहां से मरकर अन्यत्र जाना भी निश्चित है, लेकिन भविष्य में क्या होगा, इस बात का पता नहीं। इस जीवन में आपका नसीब अच्छा होगा और चालाकी से गुनाह छिपा सके तो शायद सरकार से बच जाओगे, लेकिन कर्मसत्ता आपको कभी भी नहीं छोडेगी। कर्मसत्ता जब आपको उठा लेगी, तब ये बंगले यहीं रह जाएंगे। पहरेदार देखते रह जाएंगे। बंदूकधारी लोग होते हुए भी वे कुछ नहीं कर पाएंगे और आपको जाना पडेगा। आप जिन्हें अपना समझ रहे हैं, वे सारे स्वजन बडे-बडे आँसू बहाकर रह जाएंगे। मृत्यु के समय यह समझ आए, रोना पडे या रोते-रोते यह सब छोडकर जाना पडे, इससे तो अच्छा यह है कि आप पहले सावधान हो जाएं।

'कुछ भी मेरा नहीं है, मैं सबसे पर हूं। ये सब बंधनरूप हैं और मुझे इनसे मुक्त होना है। इसलिए मुझे किसी का विरोधी नहीं होना है।' ये सब विचार आपको आते हों तो समझिए कि धर्म जँच गया। यह होगा तो देव और गुरु के पास अलग ढंग से जाना होगा। देव के पास पाप स्वीकार करते हुए पश्चाताप पूर्वक जाना होगा। पूजा करते वक्त भी सोचोगे कि 'हे भगवन्! आप के अंग स्पर्श से मुझमें ऐसी शक्ति पैदा हो, जिससे मेरे जीवन में से पाप निकल जाए। ऐसा लगेगा कि गुरु के पास पाप-मुक्ति के लिए ही जाना है। गुरु यदि गृहस्थ जीवन के बारे में पूछे तो आपको दुःख होगा। गुरु तो गृह को आत्म-रोग का घर मानते हैं और योग्य आत्माओं को घरबार का त्याग करवाते हैं। उस वक्त आपका व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि, जिससे गुरु को भी अपनी जवाबदारी का अहसास हो। 'जीवन साफल्य का मूलाधार धर्म ही है', यह बात सभी को समझनी है।

वेश धारण कर लेने से ही कोई साधु नहीं हो जाता

कोई आदमी साधु के कपडे पहन ले और भौतिक पदार्थों को अपना मानकर मोह को हमेशा जागृत रखे, साधु-जीवन में भी पर-पदार्थों के प्रति आसक्त रहे तो वह सच्चे रूप में साधु नहीं है। वह ढोंगी है। ऐसे लोगों के लिए दुर्गति तैयार ही है। वेश धारण करने से ही सद्गति सुनिश्चित नहीं होती। वेश बदलने के साथ व्यवहार में भी साधुता आनी चाहिए। वेश धारण किया और व्यवहार उसके विपरीत हो तो ऐसा नहीं चल सकता। साधु वेश धारण करके भी विपरीत बर्ताव करने वाले साधु समाज में शाप रूप हैं और वे अपना व दूसरों का भी अहित करने वाले होते हैं। ऐसा वेशधारी दूसरों को तो धोखा दे ही रहा है, स्वयं अपनी आत्मा को भी धोखा दे रहा है।

इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि किसी को बाधक हुए बिना जीने की और आत्मा की स्वाभाविक दशा पाने के लिए लडने की जितनी सामग्री यहां साधु जीवन में उपलब्ध है, उतनी अन्यत्र नहीं है। चाहे जो भी करो, लेकिन आप के यहां मरण संबंधी स्नान करने के समाचार आए बिना रहेंगे? हमारे यहां कभी स्नान के समाचार नहीं आते। हम कभी किसी के मरने पर स्नान करने नहीं गए। हमारा घरबार नहीं तो जलेगा क्या? हमारी कोई भी चीज जल जाए, लेकिन हमारा कुछ जल गया, इस तरह का दुःख आपकी तरह हमें कभी नहीं हुआ। हमारे मरने के बाद क्या होगा, ऐसी कोई चिन्ता हमें नहीं होती। यह तो ऐसा जीवन है कि यदि ठीक से जीना आ जाए तो बडे से बडा राजा भी इसके सामने रंक नजर आए।

साधु होकर मोहपाश से बंधा हुआ हो और स्वच्छंदी जीवन जी रहा हो तो वह साधु नहीं है, अपितु साधु के वेश में शैतान है। ऐसा जीवन जीते हुए भी जो अपने को साधु कहलाता है, वह महापापी है। साधु का मतलब है सर्वथा मोहरहित, इतना ही नहीं, बल्कि जो मोह को मारने निकला है, वह साधु! जो छोडा हो, उसका इच्छुक साधु नहीं होना चाहिए। वह संयम का ही अर्थी होना चाहिए और वह संयम भी आत्मा के साथ अनादिकाल से जुडी हुई कर्मयोग स्वरूप मलीनता से आत्मा को मुक्त बनाने के लिए होना चाहिए। साधु ने जिसे छोडा हो, उसी का यदि इच्छुक हो जाए और उसके मोह में फंसा हुआ हो और आत्मा की उपेक्षा कर रहा हो, पर पदार्थों के पीछे पागल बन गया हो और ऐसी मूर्खताभरी प्रवृत्तियां करता हो तो वह साधु नहीं, शैतान ही है। ऐसा साधु दुनिया का भला करने की बजाय अहित ही ज्यादा करेगा।

पर-पदार्थ को अपना मानना अधर्म है। ऐसे अधर्म से जो दूर हो, यह अधर्म जिसे अधर्म-स्वरूप लगे, इस अधर्मता का जिसे ज्ञान हो और जो धर्ममय जीवन जीता हो, वह तो राजाओं का राजा है।

लडना है तो आत्मा के लिए लडो

अपने हक के लिए ही लडना हो तो आत्मा के अधिकार के लिए लडो। अपनी आत्मा में छाई हुई मलीनता को दूर करने के लिए लडो। आत्मा को जड कर्मों से मुक्त करने के लिए लडो। इसके लिए हो सके उतनी मेहनत कीजिए और अपनी पूरी ताकत से इसके लिए प्रयत्न कीजिए। क्योंकि कर्मों के कारण अनंत शक्तिशाली आत्मा आज बहुत ही बेहाल बन गई है। आपकी आत्मा अनंत शक्तिशाली है, लेकिन वह शक्ति कर्मों से दबी है। आत्मा के मूलभूत या स्वरूपभूत जो गुण हैं, वे ही आप के असली गुण हैं, उन्हीं के लिए आपको लडना है।

आप इस समय जो जीवन जी रहे हैं, वह पर पदार्थों के बल पर जी रहे हैं। आप पर पर-वस्तुओं की अधीनता कितनी हावी है? चाय, बीडी, पान के बिना नहीं चलता, यह कितनी पराधीनता है! कल्पना कीजिए कि यदि पूरे देश में चाय बन्द हो जाए तो कितने लोग चाय के बिना जंभाई और सिरदर्द के शिकार हो जाएंगे। दुनिया के अज्ञानी लोग ऐसी-ऐसी चीजों के गुलाम बन गए हैं कि उनके बिना वे जी नहीं सकते। यह तो एक उदाहरण मात्र है। दुनिया में ऐसी बहुत सी चीजें हैं जो आपको मोहित किए बिना नहीं रहती। लेकिन, वे सब 'पर' हैं, हमें पर को छोडना है और 'स्व' में स्थिर होना है। इसलिए लडना हो तो आत्मा के अधिकार के लिए लडना आवश्यक है, स्व में स्थिर होना है, ताकि जो आप पराधीनता का जीवन जी रहे हो, उससे मुक्त होकर स्वाधीनता का जीवन जी सको। 'पर' के साथ जब तक संयोग है, आपको दृष्टाभाव से रहना है,' पर' में आसक्त नहीं होना है।

संसार में रहने के बावजूद शान्ति से जीने का उपाय यही है कि पर-पदार्थ को अपना नहीं मानना और आत्मा के हित के लिए, अपने लिए जो प्रतिकूल हो, ऐसा आचरण दूसरों के प्रति नहीं करने का यथासम्भव प्रयत्न करना, ऐसी भावना के साथ यथाशक्य आचरण करना चाहिए। इससे अशान्ति खत्म होती है और शान्ति कायम होती है। पर-पदार्थ को अपना मानना, वे पदार्थ प्राप्त करने के लिए धमाल मचाना, उनके लिए व्याकुल होना, यह सब अधर्म है और पर-पदार्थ को पर व स्व आत्मा को स्व मानना, प्राप्त पदार्थों में संतोष रखकर स्व की साधना करते रहना, यह धर्म कहलाता है। अब आप के स्नेही-संबंधी आदि से क्या बात करोगे? यही कि यह सब अपना नहीं है। इस दुनिया में कुछ भी अपना नहीं है, आत्मा के साथ अच्छे-बुरे कर्मों के अलावा कुछ भी जाने वाला नहीं है, सब यहीं धरा रह जाएगा, क्योंकि वह 'पर' है। 'पर' को 'स्व' मानना भूल है। अब घर में आप ऐसा ही व्यवहार करें, जिससे सबको लगे कि आज आप के जीवन में कुछ परिवर्तन आया है, आपकी दिशा बदल गई है, यही दिशा-परिवर्तन आपकी आत्मा की दशा का परिवर्तन करेगा और वह शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकेगी।

लोभ सबकुछ नष्ट कर देता है!

क्रोध विवेक को नष्ट कर देता है, प्रीति को नष्ट कर देता है। क्रोध जब व्यक्ति को आता है तो वह बेभान हो जाता है, उसे करणीय-अकरणीय का विवेक नहीं रहता, वह प्रीति को समाप्त कर देता है। प्रेम को नष्ट कर देता है। क्रोधी व्यक्ति में विवेक नहीं रहता तो विनय भी नहीं रहता।

मान, विनय को नष्ट कर देता है। अभिमान में व्यक्ति को यह ध्यान नहीं रहता कि मेरे सामने कौन खडा है? उनका विनय किस प्रकार किया जाए? वह तो स्वयं को सर्वेसर्वा मानता है। अभिमानी व्यक्ति को जरा-सी प्रतिकूलता मिली नहीं कि वह क्रोध से आगबबूला हो उठता है।

माया, मैत्री भाव को नष्ट कर देती है। माया-छल-कपट जब व्यक्ति के भीतर जाग जाता है तो फिर वह मित्र को भी मित्र नहीं मानता। उससे भी छलावा करने लगता है। मायावी व्यक्ति में अहंकार भी होता है और क्रोध भी।

और लोभ, लोभ जब व्यक्ति के भीतर जाग जाता है, तो वह सर्वनाश कर देता है। सब कुछ नष्ट कर देता है। लोभ तो सारी इज्जत को मिट्टी में मिला देता है। सारी प्रतिष्ठा को धूल में मिला देता है। सारी कीर्ति नष्ट कर देता है। इतना ही नहीं, लोभ के आ जाने पर सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है। लोभ हमारे भीतर जाग जाता है, तो हम पर पदार्थों के साथ मैत्री कर लेते हैं। पर पदार्थों के साथ जब मैत्री होने लगती है तो वहीं सारी विषम स्थितियां पैदा हो जाती है। लोभी व्यक्ति में माया भी होती है और अहंकार व क्रोध भी।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये आत्मा के स्वभाव नहीं, आत्मा के गुण नहीं, ये विभाव हैं, ये सभी बाहरी, पर संयोगों का परिणाम हैं। ये चारों किसी न किसी रूप में अन्योन्याश्रित भी हैं और साथ-साथ भी चलते हैं। क्रोध, मान का कारण भी है। मान, माया का कारण भी है। माया, लोभ का कारण भी है।

क्रोध, मान, माया और लोभ राग-द्वेष के परिणामरूप हैं। राग और द्वेष भी अन्योन्याश्रित हैं और दोनों साथ-साथ भी चलते हैं। द्वेष, राग का कारण है। तो निष्कर्ष रूप में यह भी कहा जा सकता है कि राग सब बुराइयों की जड है। राग, पर से, दूसरे से, पर पदार्थों से। इसे छोडे बिना मुक्ति नहीं।

हम आत्म-मैत्री करना सीखें। अपनी आत्मा से मित्रता स्थापित करें। यह आत्म-मैत्री कब स्थापित हो सकती है? जब हम पर-पदार्थों से अलग हटें। पर-पदार्थों के प्रति हमारी आसक्ति नहीं रहेगी तो हमारी मित्रता आत्मा से स्थापित हो सकेगी। शरीर से भी हमें अपना राग-भाव हटाना होता है।

अन्तर्दृष्टि खोलो

प्राणी मात्र के कल्याण की उत्कृष्ट भावना के फल स्वरूप महापुण्य उपार्जित करने के बाद अनंतज्ञानी बने परमात्मा ने तथा उन तारक परमात्मा की आज्ञा वहन करने वाले अन्य महापुरुषों ने इस बात का निर्णय करके कहा है कि जब तक व्यक्ति की आत्म-दृष्टि, अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती, तब तक उसका कल्याण होने वाला नहीं है। आजकल बाह्यदृष्टि खूब बढ गई है, इस कारण 'मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और कहां मुझे जाना है', इसका विचार ही नहीं आता है। जो कुछ आँख के सामने है, उसी की साधना करना, लगभग यह दृष्टि अधिकांश लोगों की हो गई है। जिनके पास थोडी-बहुत अन्तर्दृष्टि है तो वे भी प्रायः निश्चित ध्येय वाले नहीं हैं।

जिसे साध्य का निश्चय नहीं है, वह कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है। विवेक रहित आत्मा को पौद्गलिक सुख प्रदान करने वाले पदार्थ भी सुख देने में समर्थ नहीं होते हैं। परन्तु, इस बात का निर्णय तो तभी हो सकता है, जब आप स्वयं विचार करोगे। अभी विचार नहीं करोगे तो एक दिन आपको विचार करना पडेगा। परन्तु, उस समय आप कुछ भी करने में असमर्थ बन जाओगे। इसीलिए ज्ञानियों ने यह विचार अंत समय में नहीं, अपितु हमेशा करने को कहा है।

जो दुनिया आँख के सामने आती है, उसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं। 'संपत्ति वाले सुखी हैं और संपत्ति हीन दुःखी हैं अथवा साधन-सम्पन्न सुखी हैं और साधन-हीन दुःखी हैं', ऐसा एकांत नियम नहीं है। संपत्ति व साधन हीन होने पर भी कई सुखी होते हैं और संपत्तिवान व साधन-सम्पन्न होने पर भी कई दुःखी होते हैं। परन्तु, यह बात अंतर्दृष्टि वाले बनोगे तब ही खयाल में आ सकेगी। इसीलिए ज्ञानी अन्तर्मुखी बनने की प्रेरणा देते हैं।

भूखे व्यक्ति को देखकर जितनी दया आती है, उतनी दया पापी को देखकर नहीं आती है। एक व्यक्ति भूखा होने पर भी समभाव में स्थिर रहकर मर जाता है और दूसरा व्यक्ति पाप करते हुए दुर्भाव में मर जाता है। इन दोनों में खराब हालत किसकी होने वाली है? दुर्भाव में मरने वाले की। पूर्व काल के उत्तम पुरुषों की यह विशेषता थी कि उन्हें भूखे रहने में जितना दुःख नहीं होता था, उतना दुःख पाप करते समय होता था। भूख के दुःख के समय तो वे अपना कल्याण साध लेते थे।

आज अधिकांश लोगों में पाप का भय नहीं है, पाप के प्रति तिरस्कार नहीं है। इस कारण पापी की दया प्रायः नष्ट हो गई है। आज दुनियावी दृष्टि से जो लोग अच्छे माने जाते हैं, उनके पापों की गिनती की जाए तो पार नहीं आएगा। फिर भी आपको उनके जैसा बनने की इच्छा होती है, किन्तु साधु को देखकर साधु बनने की इच्छा नहीं होती है। कारण कि आपकी अंतर्दृष्टि नहीं खुली है, आपको पाप-पुण्य का विचार नहीं है और मोक्ष आपका लक्ष्य नहीं है।

अयोग्य को उपदेश का निषेध

शास्त्रकार कहते हैं कि जगत के जीवों की अंतर्दृष्टि खुल जाए वैसा प्रयत्न करो, क्योंकि अंतर्दृष्टि के अभाव में सच्चे उपकार के लिए किया गया प्रयत्न भी निष्फल ही जाता है। उल्लू को

दिखाई दे, यह ताकत सूर्य में भी नहीं है। सूर्य के उदय में लोगों को आनंद होता है, किन्तु उल्लू को दुःख होता है। इसी प्रकार कई आत्माओं को सच्चे साधु का एकांत आत्म-हितकर उपदेश भी पसंद नहीं आता। उन आत्माओं को सुखी बनाने की ताकत अनंतज्ञानी परमात्मा में भी नहीं है। अतः अंतर्दृष्टि खुल जाए वैसा प्रयत्न करना चाहिए।

जिसकी भवितव्यता अच्छी होती है, उसी की अंतर्दृष्टि खुलती है। निकट भविष्य में जिसका कल्याण होने वाला हो, उसी को अंतर्दृष्टि खोलने वाला उपदेश अच्छा लगता है। शास्त्रकारों ने अयोग्य-अपात्र को उपदेश देने का निषेध किया है। अयोग्य आत्माओं को चाहे जितना उपदेश दिया जाए, उसे लाभ होने के बजाय नुकसान ही होता है। आज समाज में चार तरह का वर्ग है। पहले तो जगत में अधिकांश लोग ऐसे हैं जो सच्चे साधु का उपदेश सुनते ही नहीं हैं। दूसरा, रूढचुस्त वर्ग सुनता है, लेकिन एक कदम भी आगे नहीं बढता है। तीसरा, वर्तमान युग का पंडित वर्ग है जो सुनता तो है, लेकिन दूसरों को उपदेश देने के लिए अथवा दुनिया में अपने पांडित्य का प्रदर्शन करने के लिए सुनता है। धर्म की आराधना के लिए ये तीनों वर्ग बेकार हैं। हमें तो ऐसा चौथा वर्ग चाहिए, जिसकी अंतर्दृष्टि खुल गई हो अथवा खुलने की तैयारी में हो।

सभा में हम उसी वर्ग को देखते हैं। सभा में हमें तभी विशेष आनंद आता है, जब यह चौथा वर्ग श्रोता के रूप में हो। अर्थी के पास साधन-सम्पन्न दाता खिलता है। उसी प्रकार योग्य श्रोता मिले तो बोलने वाले की शक्तियां भी बढ जाती हैं। धर्म श्रवण के लिए आए आत्म-कल्याण के साधक को त्याग की बात पसंद न आए, यह नहीं हो सकता। धर्म की बात में घर छोडने की बात आएगी, परन्तु लक्ष्मी बढाने की बात नहीं होगी, अपितु उसका सदुपयोग करने की बात आएगी। अन्तर्दृष्टि खुले बिना अथवा खुलने की योग्यता प्राप्त हुए बिना, यह बात पसंद आने वाली नहीं है। अतः मुख्य बात यही है कि अंतर्दृष्टि खोलने के लिए प्रयत्नशील बनो।

अन्तर्दृष्टि खोलने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल और रात्रि में सोने से पूर्व थोडे समय के लिए यह विचार करें कि 'मैं कौन हूं? कहां से आया हूं? मैं क्या करता हूं? और वर्तमान में चल रहा मेरा आचरण मुझे कहां ले जाएगा?' इन चार बातों का प्रतिदिन विचार करो। इन बातों पर विचार करते-करते एक दिन अंतर्दृष्टि खुलने लगेगी और बहिर्दृष्टि दूर हो जाएगी। उसके बाद सद्गुरु की खोज और वीतराग परमात्मा की सेवा किए बिना चैन नहीं पडेगा।

अपना भविष्य अपने हाथ में है

आप जरा शान्त-चित्त से चिन्तन करके देखिए, अपने आप से पूछिए कि 'मैं कौन हूं, शरीर या आत्मा?' आप चिन्तन करेंगे तो पाएंगे कि 'मैं शरीर नहीं, अपितु आत्मा हूं।' शरीर और आत्मा एक नहीं, बल्कि भिन्न हैं, इसी कारण जो शरीर का सुख है, वह आत्मा का सुख नहीं है। शरीर के सुख में आत्मा को सुख हो, ऐसा नियम नहीं है। शरीर के दुःख में भी आत्मा सुखी हो सकती है और शरीर के सुख में भी आत्मा दुःखी हो सकती है। लेकिन, किसी भी अवस्था में आत्मा को दुःखी नहीं करना चाहिए। आत्म-सुख के लिए शरीर का सुख छोडना पडे तो छोड देना, क्योंकि 'मैं शरीर नहीं हूं।' शरीर और आत्मा भिन्न हैं, मैं शरीर नहीं, आत्मा हूं; इतना भान आपको हो जाएगा तो आपकी कार्यशैली स्वतः बदल जाएगी।

'मैं कहां से आया हूं?' इसकी कल्पना अपनी वर्तमान स्थिति से कर सकते हैं। किसी भी गति से मैं आया, लेकिन इतना तो तय है कि पूर्व भव में कुछ पुण्य कर्म करके आया हूं। इसीलिए मुझे

यह श्रेष्ठ भव मिला है तथा अन्य जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ सामग्री प्राप्त हुई है। 'मेरा वर्तमान आचरण कैसा है?' अब यही देखना है, क्योंकि यहां से मरकर कहां जाना है, इसका आधार उसी पर है। सदगति में ही जाने की इच्छा होने पर भी वर्तमान जीवन शैली के आधार पर ही वह स्थान निश्चित होने वाला है। इस दृष्टि से आपका भविष्य आप के ही हाथों में है। आप जो प्रवृत्ति करते हैं, वह भविष्य का विचार करके करते हैं? इस सवाल पर विचार करते हुए आपको धैर्य के साथ चिन्तन करना होगा।

सोचना होगा कि मैं जो भी प्रवृत्ति कर रहा हूं, क्या भविष्य का विचार करके कर रहा हूं? आत्मा की दृष्टि से भविष्य में इसका अच्छा परिणाम आएगा या नहीं? यदि आपको यह समझ नहीं आता तो ज्ञानियों से पूछकर अपनी प्रवृत्ति करें, क्योंकि अब तक जो किया, वह तो भूतकाल हो गया, उसके भविष्य में जो परिणाम आने हैं, वे तो आएंगे ही, किन्तु अब तो संभल जाऊं ताकि भविष्य सुधर सके, अब आगे का तो अपने हाथ में है। वर्तमान काल हमारे भूतकाल की कार्यशैली का ही परिणाम है, इसका खयाल नहीं होने के कारण ही वर्तमान में शान्ति नहीं है। लेकिन, भविष्य अपने हाथ में होने पर भी गलत प्रवृत्ति कर अपने भविष्य को बिगाडना क्या समझदारी का लक्षण है? भविष्य का चिंतन करने वाले चक्रवर्ती सम्राट भी राजपाट सब छोडकर साधु बन गए। एक क्षण में उन्होंने छः खण्ड की सुख-सामग्री छोड दी। उन्होंने सोचा कि 'इस सुख-समृद्धि में भविष्य का विचार नहीं किया तो भविष्य खतरनाक है।' कोई भी प्रवृत्ति करते समय भविष्य का विचार करना तथा स्वयं को मालूम न पडे तो ज्ञानी को पूछकर प्रवृत्ति करना, ये दो नियम जीवन सुधार के लिए आवश्यक हैं।

धर्म-स्थान मोह को मारने के लिए हैं

श्री जिनमन्दिर, उपाश्रय, पाठशाला आदि धर्म-स्थान दुनियावी वस्तुओं का मोह दूर करने के लिए और आत्म-स्वभाव के प्रकटीकरण के लिए हैं। उन स्थानों में जाकर भी हम दुनियावी पदार्थों का राग बढाएं तो हम उन पवित्र स्थानों की आशातना ही करते हैं। श्री जिनेश्वर देव के मन्दिर में जाकर जिनेश्वर भगवंत की सेवा करके यही भावना करें कि 'हे भगवन्! आप वीतरागी हैं, मैं रागी हूं। मुझे वीतरागी बनना है, इसीलिए आपकी सेवा में आया हूं। आप के दर्शन व पूजन के योग से मुझ में वीतराग भाव प्रकट हो, यही मैं चाहता हूं। आपकी आत्मा 'पर' के संग से सर्वथा मुक्त बनी, इसी प्रकार मेरी आत्मा भी 'पर' के संग से सर्वथा मुक्त बने, यही मेरी भावना है। जैसे आप हैं, वैसा ही मैं बनना चाहता हूं। आप के जैसा बनने के लिए ही मैं आपकी शरण में आया हूं।'

'आप ही मेरे आधार हैं, आपकी शरण स्वीकार कर मैं आपकी आज्ञानुसार जीना चाहता हूं। आपकी पूजा के योग से मुझ में आपकी आज्ञा पालन करने का सामर्थ्य पैदा हो, यही मैं चाहता हूं। आपकी आज्ञा के अनुसरण सिवाय मेरी कोई इच्छा नहीं है, क्योंकि आपकी आज्ञा के अनुसरण में ही सभी का कल्याण रहा हुआ है। ऐसी श्रद्धा मेरी आत्मा में प्रकट हुई है।' श्री जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा के सामने आँखें स्थिर कर व मन को एकाग्र कर इस प्रकार की भावना करनी चाहिए, परन्तु अन्तर में इस प्रकार की भावना पैदा होना भी अत्यंत कठिन है। आत्म-स्वभाव की पहचान हो और आत्म-स्वभाव को विकसित करने की भावना जगे तो यह भावना पैदा हो सकती है। इसके लिए 'पर-वस्तुएं आत्मा से भिन्न हैं', यह भाव आना चाहिए।

उपाश्रय में से कौनसी ध्वनि निकलती है? आत्म-स्वभाव को प्रकट करने की ही न? इससे विपरीत ध्वनि निकले तो समझना चाहिए कि उपाश्रय में रोग फैल गया है। वह जल्दी बाहर निकले और दूसरे किसी को उसका चेप नहीं लग जाए, उसके लिए सावधानी आवश्यक है। उपाश्रय में आने

पर आत्म-कल्याण की बातें सुनाई देती है और आत्म-कल्याण कर रहे महापुरुषों के दर्शन होते हैं। उसके योग से आत्मा को प्रेरणा मिलती है और अपने सत्त्व को विकसित करने की भावना जागृत होती है। उपाश्रय में दुनियावी पदार्थों का मोह बढाने वाली बातें नहीं हों, मात्र आत्म-कल्याण की ही बातें हों, तभी उपाश्रय में आने वाले के मोह पर प्रहार हो सकता है।

इसी प्रकार पाठशाला में भी आत्म-कल्याण का ही शिक्षण मिलना चाहिए। पाठशाला का शिक्षण जिनेश्वर देव की आज्ञा की आराधना में सहायक होना चाहिए। पाठशाला से धर्म-क्रिया में रस बढना चाहिए। धर्म-क्रिया के सूत्र पढते समय धर्म-क्रिया के प्रति आदर भाव बढता जाए, वैसी योजना पाठशाला में होनी चाहिए, तभी पाठशाला मोह को मारने का साधन बन सकती है।

देखना, चौदह पूर्व का सार लज्जित न हो!

जिसने चौदह पूर्व के सार को प्राप्त कर लिया है, उसका मन क्या दुनियावी वस्तुओं की प्राप्ति में भटकेगा? और उसमें भी इस चौदह पूर्व के सार को साधन बनाने को प्रयत्नशील होगा? दुनियावी वस्तुओं की प्राप्ति, भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए कोई श्री नवकार महामंत्र की आराधना करता है, चौदह पूर्व के सार को माध्यम बनाता है तो कहना पडेगा कि वस्तुतः उसे नवकार मंत्र का मूल्य ही समझ में नहीं आया है, हीरे के स्थान पर कंकर की अभ्यर्थना कर रहा है, अक्षय सुख और परमानंद के स्थान पर संसार चक्र में भटकाने, 84 लाख जीवयोनियों में रुलाने वाली अभ्यर्थना कर रहा है। जिसे चौदह पूर्व का सार प्राप्त हुआ, वह यदि संसार में आने वाले दुःखों से भागता रहेगा और संसार के सुखों के पीछे मंडराता रहेगा तो क्या वह चौदह पूर्व के सार को, श्री नवकार को लजाता नहीं है? वस्तु बहुत अच्छी है, परन्तु जिसे वह प्राप्त हुई है, उसे उसकी कीमत मालूम होनी चाहिए, अन्यथा वह बेकार और नुकसान करने वाली भी साबित हो सकती है।

मिथ्यात्व ने जगत पर और जगत के सुख पर ऐसी श्रद्धा करवा दी है कि मनुष्य उसे प्राप्त करने के लिए कोई भी संभव पुरुषार्थ करने में कमी नहीं रखता। जिस-जिस में सुख माना, उसे जानने का मन कितना? देखने का मन कितना? प्राप्त करने का मन कितना? और, जिन्हें अपना माना उन्हें भी यह ज्ञान कराने और दिखाने आदि का मन कितना? मिथ्यात्व द्वारा उत्पन्न श्रद्धा यदि यह कार्य करे तो जिन्हें श्री नवकार की प्राप्ति हुई है, जिन्हें नवकार पर वास्तविक श्रद्धा उत्पन्न हुई है, उन्हें क्या-क्या जानने, देखने, प्राप्त करने और संभालने का मन होगा? श्री नवकार मंत्र में जो भी है, वही जानने का, देखने का और प्राप्त करने का मन होगा न? और, इससे अधिक अच्छी व सच्ची वस्तु प्राप्त करने जैसी अन्य नहीं है, यह भी भाव पैदा होता है न? श्री नवकार मंत्र श्रेष्ठ क्यों है? उसमें ये बैठे हैं इसलिए? कौन? योग्यता और पुरुषार्थ से श्री अरिहंत बने हैं वे! उसके फलस्वरूप सिद्ध भी बैठे हैं। उनकी आज्ञा का अहर्निश पालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय एवं साधु बैठे हैं। यह सब उसमें बिराजमान हैं, इसलिए नवकार मंत्र महान है! उन पांचों को किए जाने वाले नमस्कार में यह सामर्थ्य है कि नमन करते-करते यदि भाव बढ जाएं तो श्रेणी पर आरूढ हो जाए और नमन करने वाला केवलज्ञानी बन जाए, यह भी संभव है।

लेकिन, आज अधिकांशतः स्थिति अलग है। कुछ लोग आकर कहते हैं कि श्री नवकार गिनने से 'व्यापार बढ गया, आय बढ गई, बंगला नहीं था वह हो गया, मोटर नहीं थी वह आ गई, अमुक रोग नहीं मिटता था, वह मिट गया आदि।' और कुछ तो यहां तक कह देते हैं कि 'पुत्र नहीं था, वह हो गया।' ऐसे जीवों की श्री नवकार पर श्रद्धा में वृद्धि हुई या श्री नवकार पर की श्रद्धा दुर्लभ हुई? ऐसे जीव

मुग्ध कोटि के नहीं होते। श्री नवकार जपते हुए जो सुख उत्पन्न होता है, उसका जिसे अनुभव हो, वह तो कहता है कि 'श्री नवकार मंत्र के स्मरण से अब मैं परम् शान्ति का अनुभव कर रहा हूं, कोई भी दुनियावी पदार्थ मिले या चला जाए, अब वह मुझे परेशान नहीं कर सकता। अब विषय-कषाय का उतना जोर नहीं रहा। अब तो बारंबार यही भाव आता है कि जल्द से जल्द दुनिया के सभी संग छूट जाएं और मैं मोक्ष गति को प्राप्त कर सकूं।'

घर में वैराग्य का वातावरण बनाएं!

आप अपनी संतानों को कैसी सलाह देते हैं? आप उन्हें कैसी सलाह देना पसन्द करेंगे? श्री वीतराग प्रभु के सेवक के रूप में सांसारिक राग को पुष्ट करने की सलाह देनी चाहिए या वैराग्य पुष्ट करने की सलाह? कदाचित् आप वैराग्य की सलाह नहीं दे सकें, उस स्थिति में सुगुरु आदि आपकी संतानों को वैराग्य की सलाह दें तो उसमें आपको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। जिसे यह भी पसंद न हो, उसे वीतराग का सेवक या जैन कैसे कह सकते हैं?

श्री वीतराग प्रभु का सेवक वैराग्य का विरोधी नहीं हो सकता। आज दशा बहुत विपरीत है। वैराग्य के प्रति वैर-भाव का माहौल चारों ओर बना हुआ है। 'आपका परिवार इससे मुक्त है', क्या आप ऐसा कह सकते हैं? श्री वीतराग का सेवक तो वैराग्य की वैरी-हवा भी अपने घर में घुस न जाए, इसके लिए सतत जागरूक और प्रयत्नशील रहता है। आपने इसका ध्यान नहीं रखा। अन्यथा, जैन परिवार में, श्री वीर के उपासकों, सेवकों के परिवार में वैराग्य विषयक बातें होती रहें और ऐसी बातें बहुत प्रफुल्लित भावना के साथ हों, इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं, बल्कि यह स्वाभाविक बात है। लेकिन, दुर्भाग्य से आज ऐसी स्थिति नहीं है। आज तो श्री वीतराग के खास सेवक मानेजाने वाले परिवारों में भी वैराग्य की बात लगभग होती ही नहीं है। इतना ही नहीं कुछ परिवारों को तो वैराग्य के नाम से ही वैर हो गया है, ऐसा लगता है।

जो श्री वीतराग का सेवक है, वह तो पुत्र को कहता है कि 'सुसाधु के पास जाओ, सुनो और अच्छा लगे तो उनके साथ ही रह जाओ। यदि मोह के कारण मैं भी बाधक बनूं तो मेरी बात मत मानना, क्योंकि न तो तुम्हें मरने से बचा सकूं, ऐसी मुझमें शक्ति है और न ही ऐसी मेरी सामर्थ्य कि मैं तुम्हारी आत्मा का कल्याण कर सकूं। सुसाधु ही तुम्हें आत्म-कल्याण के मार्ग पर ले जा सकते हैं। तुम्हें संयम मार्ग पर जाते हुए देखकर यदि मुझे मूर्च्छा आ जाए तो भी अपने मार्ग पर दृढ रहना। यहां तो सब स्वार्थ का तूफान है। मैं तुमसे कहूंगा कि मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता, लेकिन तुम्हारे मरने पर भी संभव है कि कुछ समय बाद मैं मिठाई खाऊं। कदाचित् तुम पहले मर गए तो तुम्हारा दाह-संस्कार मुझे ही करना पडेगा और यह करने पर मैं खाना-पीना छोड दूंगा, ऐसा भी मत मानना। इस दुनिया में तो मुर्दों पर भी मौज मनाने में किसी को संकोच नहीं होता। कोई किसी के पीछे नहीं मरता। यदि ऐसा सोचते हो तो यह सही नहीं है, भ्रान्ति मात्र है।' ऐसी बातें रोज-रोज होती रहे तो परिवार में प्रायः सभी को संसार भयंकर लगे। संस्कारी आत्माएं पाप से काँप उठती हैं। यह अनंत ज्ञानियों द्वारा कथित मार्ग है। इसे घर में स्थापित कर दीजिए, फिर आपको अपने घर में अलग ही प्रकार की आनंददायी शान्ति का अनुभव होगा। सांसारिक जीवन को दिव्य और उच्च कक्षा का बनाने के लिए घर में वैराग्य का वातावरण लाना होगा। वैराग्य रहित जीवन, जीवन नहीं है।

जिसके हृदय में श्रीनवकार, वह कैसे चाहे संसार?

श्री नवकार महामंत्र इतना अधिक महिमावंत है कि उसके स्मरण से समस्त दुःख भी दूर होते हैं और कर्मबंध का योग भी टल जाता है। इतना सुनने के पश्चात् लायक जीव के मन में ऐसा भाव नहीं जगेगा कि श्री नवकार मंत्र की इतनी महिमा किस कारण से है? उसके अक्षरों और उसके शब्दों में कौनसा सुन्दर तत्त्व समाया हुआ है? इस मंत्र द्वारा जिन्हें नमस्कार करते हैं, वे कौन हैं और कैसे हैं? इसके पदों में जिन-जिनको नमस्कार किया जाता है, वे कैसे और कितने उत्तम हैं कि जिनको पूरे मनोयोग से नमस्कार करने के प्रताप से सभी पापों का नाश हो जाता है? ऐसे विचार नवकार मंत्र की महिमा पर विश्वास करने वाले एवं उसे गाने वाले को आएंगे या नहीं? 'मैं भी ऐसा बनूं', इस प्रकार का भाव होगा या नहीं?

'इस जन्म में श्री अरिहंत द्वारा कथित धर्म की प्राप्ति हो जाए तो मेरा परलोक सुन्दर बने और श्री अरिहंत द्वारा कथित धर्म की प्राप्ति से मेरी परलोक की परम्परा भी उत्तम बने। ऐसा करते-करते एक भव ऐसा भी आ जाए कि जिसमें मेरा समस्त पाप क्षय हो जाए। मैं कर्म के संयोग से सर्वथा रहित हो सकूं और मेरा शुद्ध स्वरूप प्रकट हो। मैं श्री सिद्ध पद का स्वामी बन जाऊं।' ऐसी ही भावना नवकार मंत्र को जपने वाले में होती है न? यदि कोई नवकार मंत्र के स्मरण और शरण के फल के रूप में कुछ चाहे तो वह सर्व पापों का नाश ही चाहेगा न? अर्थात् वह सिद्ध पद की ही वांछा करेगा न?

श्री नवकार मंत्र द्वारा श्री अरिहंत को, श्री सिद्ध को एवं आचार्य-उपाध्याय-साधु को नमस्कार करने वाला एवं इन पांचों को किया गया नमस्कार सर्व पापों का क्षय करने वाला होता है, ऐसा समझने वाला जैन, इन पांचों के प्रति कितना समर्पित होगा? उसे चाहिए सिद्ध पद, मोक्ष, परमानंद, अक्षय सुख; इस हेतु वह श्री अरिहंत की आज्ञा का पालन करने के लक्ष्य वाला होता है। श्री अरिहंत की आज्ञा का पालन साधुपने में जैसा और जितना हो सकता है, वैसा और उतना गृहस्थावस्था में नहीं हो सकता, अतः 'साधुपना कब प्राप्त होगा', ऐसा मनोरथ होता है। उसे संसार अच्छा नहीं लगता। वह समझता है कि सर्व पापों का नाश हुए बिना सिद्धत्व प्राप्त नहीं होगा एवं पाप के विनाश हेतु यदि कोई आराध्य हैं तो वे हैं श्री अरिहंत, श्री सिद्ध एवं श्री आचार्य-उपाध्याय-साधु। इन पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने वाले को क्या चाहिए? ऋद्धि तो उसे स्वाभाविक रूप से मिलेगी ही, किन्तु उसे वह नहीं चाहिए, उसे तो चाहिए सिद्धि और जो ऋद्धि में अपना लक्ष्य और भान नहीं भूला, अपना विवेक नहीं खोया, लक्ष्य के प्रति समर्पित रहा, उसे मिलेगी सिद्धि।

श्री नवकार की प्राप्ति हुई अर्थात् दुर्गति की समाप्ति एवं सदगति निश्चित, परन्तु वह किसके लिए? श्री नवकार जिसे सर्वस्व लगे उसके लिए, हर किसी के लिए नहीं। चौदहपूर्वी भी कहते हैं कि श्री नवकार में जो तत्त्व है, उसका सम्पूर्ण कथन संभव नहीं है, जो भी श्रेष्ठतम और आत्महितकर है, वह सभी श्री नवकार में है। इसलिए पूरे मनोयोग से नवकार जपने वाले को तो संसार खारा ही लगेगा और साधुत्व ही प्यारा लगेगा।

तृष्णा का आतंक

मन की तृष्णा ने आज कितना भयानक आतंक फैलाया है? पिता-पुत्र, पति-पत्नी, बडा भाई-छोटा भाई, सास-बहू इन सब लोगों के बीच का व्यवहार देखो। जरा सोचो तो सही एक दूसरे के लिए कितनी ईर्ष्या, द्वेष-भावना दिल में भरी हुई है? मन की तृष्णा बढी है। पर-वस्तुओं को प्राप्त करने की

व भोगने की लालसा बढी है और त्याग-भावना नष्टप्रायः हो गई है। इसके परिणामस्वरूप आज के संसार में भयानक भगदड और भागदौड मच रही है। लोग भौतिकता की चकाचौंध में अंधे हो गए हैं।

जब तक मन की भयानक भूख नहीं मिटेगी और त्याग की भावना पैदा नहीं होगी, तब तक ऐसी भगदड और भागदौड मची रहेगी, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। इस तरह विचार किया जाए तो अवश्य समझ में आएगा कि मन की भौतिक भूख ही सारे विनाश का कारण है। आज सभी तरफ अधिक से अधिक धन कमाने की होड मची हुई है, येन-केन-प्रकारेण जल्दी से जल्दी इतना धन कमाना कि कोई प्रतिस्पर्द्धा में अपने सामने न टिके। बस, यही धुन सवार है। नीति से कमाया हुआ धन भले ही अच्छा माना जाए, परन्तु धन तो वास्तव में खराब ही है, क्योंकि यह प्रायः तृष्णा को जगाता ही है। और जो धन का बन जाता है, वह बाप का नहीं रहता, मां का नहीं रहता, भाई का नहीं रहता, पुत्र का नहीं रहता, पुत्री का नहीं रहता; वास्तव में फिर वह किसी का नहीं रहता। धन ही उसके लिए सबकुछ होता है। वह धन के नशे में पागल हो जाता है, बेभान हो जाता है।

आज आप लोगों के घरों में बुजुर्गों की स्थिति ऐसी हो गई है कि 'जो कमावे, वह खावे और दूसरा मांगे तो मार खावे'। ऐसी स्थिति हो जाने के कारण ही इस देश में वृद्धाश्रम या विधवाश्रम की बातें चलने लगी हैं। ऐसे आश्रम स्थापित हों, यह कोई गौरव की बात नहीं है; अपितु उन बुजुर्गों और विधवाओं के परिवारों के लिए तथा समाज और संस्कृति के लिए शर्म की बात है।

आपसे मेरा पहला प्रश्न यह है कि आपका राग आप के माता-पिता पर अधिक है या पत्नी-बच्चों पर अधिक है? भगवान पर राग होने का दावा करने वाले को मेरा यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। योग की भूमिका में माता-पिता की पूजा लिखी है, पत्नी-बच्चों की नहीं। मुझे तो ऐसा महसूस होता है कि आज के लोगों को कम से कम कीमत की कोई चीज लगती हो तो वह उसके मां-बाप हैं।

पर पदार्थ में ममत्व भी व्यभिचार है

आर्यों में भी जो उत्तम कोटि के आर्य हैं, उन्होंने पर स्त्री के सामने विकार भरी दृष्टि डालने को भी व्यभिचार माना है। इस बात को लेकर जैन शासन के महापुरुष तो यहां तक फरमाते हैं कि पर-भाव में ममत्व की बुद्धि भी एक प्रकार का आत्मा का व्यभिचार है।

'पर' अर्थात्? शरीर से लेकर यह समस्त जगत हम से 'पर' (भिन्न) है। जिसे हम 'मेरा शरीर' कहते हैं, वह भी वास्तव में अपना नहीं है। अनादिकाल से जिसका 'अस्तित्व' है और जो भिन्न-भिन्न शरीर में रही है, ऐसी आत्मा ही 'मैं' हूं। 'मैं' अर्थात् शरीर नहीं, अपितु शरीर में रही आत्मा। उस आत्मा के स्वयं के गुणों के सिवाय, मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार का भान हमें यह जैन शासन प्रारम्भ से ही कराता है।

आत्मा के गुणों को छोडकर मेरा कुछ भी नहीं है और फिर भी इस शरीर आदि में हमें 'ममत्व' बुद्धि है। शरीर आदि में ममत्व बुद्धि, यह आत्मा का अनादिकालीन व्यभिचारी स्वभाव है। जब तक शरीर आदि के ऊपर से ममत्व बुद्धि दूर नहीं होगी, तब तक आत्मा का अनादिकालीन व्यभिचारी स्वभाव दूर नहीं हुआ है, यह मानना ही पडेगा।

मनुष्य जन्म को सफल बनाना हो तो उस व्यभिचारी स्वभाव को छोडना ही होगा। जब तक शरीर आदि के विषय में ममत्व बुद्धि दूर नहीं होगी और जब-जब भी ममत्व बुद्धि हो जाए, तब-तब खयाल आते ही उससे रुकें नहीं.... आकुल-व्याकुल न हों, तब तक अनंतज्ञानी आदि तारकों ने रत्नत्रयी के भाजन रूप मनुष्य जन्म की जो पहिचान कराई है, उसे हम पढें-सुनें तो भी यह बात हृदय में

स्थिर नहीं होगी। जैन कुल में तो यह शिक्षण बचपन से ही मिलना चाहिए। शरीर और अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि हो जाए तो उसका खयाल आते ही कंपन का अनुभव हो, ऐसे जैन कितने?

शरीर और अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व बुद्धि का सर्वथा अभाव हो, यह स्थिति अभी दूर है। क्योंकि उसके लिए तो अत्यधिक सामर्थ्य चाहिए। परन्तु हृदय से मूल सिद्धान्त की रुचि पैदा हुए बिना शरीर आदि के प्रति रही ममत्व बुद्धि का हृदय में डंक भी कहां से रहेगा? अनादिकालीन अभ्यास आदि के कारण समझदार आत्माओं में भी कभी-कभी शरीर आदि के प्रति ममत्वभाव हो जाए, यह भी कोई असंभव बात नहीं है। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ममत्व भाव आ जाए तो वह हृदय में खटकता है या नहीं? उसे मूल में से निकालने का मन होता है या नहीं? मनुष्य जन्म, एक मात्र रत्नत्रयी का ही भाजन है, यह बात हृदय में बराबर जच जाए तो ही शरीर आदि के प्रति रहा ममत्व भाव हृदय में कांटे की भाँति डंक देगा और उस ममत्व भाव से सर्वर्था मुक्त बनने का प्रयत्न होगा।

रत्नत्रयी की आराधना में उद्यमशील बनें

श्री जैन शासन तो चाहता है कि, समस्त जगत् भोग का त्यागी बनकर रत्नत्रयी की आराधना में जुट जाए, कोई भी आत्मा भोग का भोक्ता बनने का पाप न करे और सभी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र की आराधना में उद्यमशील बने।

इस शासन के स्थापक, पालक और प्रचारक पुण्य पुरुषों की यही कामना रही हो, इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है। परन्तु वे पुण्य पुरुष जगत् की स्थिति को अच्छी तरह जानते थे, इस कारण उन पुण्य पुरुषों ने, 'जो भी आत्म कल्याण चाहता हो, उसे भोग का सर्वथा त्याग कर एकमात्र रत्नत्रयी की आराधना करनी चाहिए और जो कोई भी भोग का सर्वथा त्याग न कर रत्नत्रयी की आराधना में उद्यमशील नहीं बनेगा, वह अधर्मी ही है', ऐसा प्रतिपादन नहीं किया।

यदि वे ऐसा प्रतिपादन करते तो संभवतया उसका कटु परिणाम यही आता कि उन तारकों की आज्ञा का अनुसरण करने की भावना वाले भी उन तारकों की आज्ञा का अनुसरण नहीं कर सकते। जीव मात्र के कल्याणकामी उन पुण्य पुरुषों ने यही उपदेश दिया कि जिनसे शक्य हो, उन्हें तो भोग का सर्वथा त्याग कर एक मात्र रत्नत्रयी की आराधना में ही उद्यमशील बनना चाहिए, परन्तु जिनके लिए भोग का सर्वथा त्याग और एकमात्र रत्नत्रयी की आराधना शक्य न हो उन आत्माओं को, भोग के सर्वथा त्याग और एकमात्र रत्नत्रयी की आराधना के ध्येय को सुनिश्चित कर देना चाहिए और जितने अंश में शक्य हो, उतने अंश में भोगों का त्याग करना चाहिए और रत्नत्रयी की आराधना करनी चाहिए। जितने अंश में मनुष्य जन्म को भोग का भाजन बनाना पडे, उतने अंश में हृदय में दुःख होना चाहिए और बराबर यह महसूस होना चाहिए कि कब मैं भोगों का सर्वथा त्यागी बनकर एकमात्र रत्नत्रयी की आराधना में उद्यमशील बनूंगा। ऐसी भावना रखकर उस सामर्थ्य को पाने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए।

भूतकाल में कुछ न कुछ धर्म की आराधना की और उस आराधना से पुण्य का बंध हुआ, उस पुण्य के प्रभाव से ही यह मानव जन्म मिला, आर्यदेश और जैन कुल मिला, देव-गुरु-धर्म का संयोग मिला, ऋद्धि-सिद्धि मिली। इस प्रकार धर्म के ही प्रभाव से प्राप्त ऋद्धि-सिद्धि से आप फिर भौतिकता की चकाचौंध में खो कर, संसार की ओर आकृष्ट होकर भटक जाएं, इस मानव जीवन के लक्ष्य को भूल जाएं और दुर्गति की ओर प्रयाण करते हों तो आपकी इस स्थिति को देखकर हमें मनोमन दुःख होता

है और इसी कारण अवसर देखकर 'आप लोग दुर्गति की तैयारी से रुको', यह उपदेश देने का मन हो जाता है।

मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं

संयोग का असर आप पर होता है या नहीं होता है? होता ही है! अतः घर नहीं छोडा जा सकता, लेकिन घर में अलग कमरे में अकेले बैठकर आप सोच सकते हैं कि 'एगोऽहं नत्थि मे कोइ' 'मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं।' कमरे से जब यह ध्वनि बाहर निकले तब कुटुम्ब-परिवार पूछे कि 'आप क्या बोल रहे हैं?' तो आपको कहना चाहिए कि 'आप मेरे नहीं, मैं आपका नहीं। दुनियादारी की दृष्टि से, व्यवहार से आप मेरे हैं और मैं आपका हूं; लेकिन आत्मा की दृष्टि से आप कोई मेरे नहीं हो और मैं आपका कोई नहीं हूं।'

जब पुत्र कहे कि 'पिताजी! मैं आपका बेटा हूं', तो पुत्र को भी कहिए कि 'मैं तुम्हारा और तुम मेरे हो, यह बात व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, क्योंकि तुम मेरे यहां जन्में हो। लेकिन, मरना दोनों को है। हम पहले आए और तुम बाद में आए। मैं अपने पिताजी को छोडकर आया और यह सब संबंध बांधा। अब देखना है कि हम में से पहले कौन जाता है। यह पता नहीं कि हम मरकर कहां जाएंगे? मैं तुम्हारे साथ नहीं आ सकता और तुम मेरे साथ नहीं। मेरा-तुम्हारा तो लोक-व्यवहार का शब्द है, लेकिन आत्मा की भाषा में कोई किसी का नहीं, यह याद रखना।'

दुनिया में कई बाप कहते हैं, 'बेटे! तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता', लेकिन ऐसा बोलने वाले अनेक पिता, पुत्रों को छोड, श्मशान पहुंचाकर आ गए और आज आनंद से जी रहे हैं। मजे से खाते-पीते हैं, ऐसा है यह संसार! इस तरह तुम भी यहां आ गए हो तो जाने से पहले कुछ साध लो, धर्म की साधना करलो, मेरा-तेरा भूल जाओ।'

'यह तेरा और यह मेरा', ऐसा कहना या मानना, यह मूर्खता है। इसमें से कुछ भी मेरा नहीं है और तुम्हारा भी नहीं है। इस नश्वर सांसारिक सम्पत्ति और सांसारिक संबंध में आसक्त होने जैसा कुछ भी नहीं है। क्योंकि यह दुनियावी सम्पत्ति शाश्वत काल तक टिकने वाली नहीं है। स्वजनों के संबंध भी शाश्वत नहीं हैं। मेरा-तुम्हारा करते-करते कितने ही चले गए, किसी की इच्छानुसार यहां कुछ होता नहीं है। इस तरह जीवन जीना चाहिए कि जिससे परिणामतः जन्म और मृत्यु से शाश्वत मुक्ति मिल जाए। आप जब ऐसा सब कहेंगे, तब पुत्र पूछे कि 'जन्म और मृत्यु की परम्परा बंद हो, इसके लिए जीवन कैसे जीएं?' तब आप कहिए कि 'श्री वीतराग परमात्मा के साधु ही तुमको सही-सच्चा रास्ता बताएंगे। मैं तुझे जैसा रास्ता चाहिए वैसा नहीं बता सकता, क्योंकि इतना जानने-मानने के बावजूद भी ममता-मोहान्धता के कारण संसार में फंसा हुआ हूं, लेकिन तुम न फंसो और जीवन को सफल करो, इसलिए पंच महाव्रत धारी हमारे साधु ही तुम्हें कल्याणकारी रास्ता बता पाएंगे।'

शान्ति चाहिए तो परभाव से मुक्त बनो!

किसी की अनुकूलता में बाधक न बनने और हमको जो प्रतिकूल हो, ऐसे व्यवहार का दूसरों के प्रति आचरण न करने के लिए सबसे पहली बात है कि हम पर-पदार्थों को अपना मानना छोड दें। समझ लीजिए कि जो कुछ आप देख रहे हैं, वह सब 'पर' हैं और आप इनसे 'पर' हैं। जब तक इन दृष्टव्य भौतिक पदार्थों से मेरी आत्मा दूर नहीं होगी, तब तक मेरी आत्मा आधि, व्याधि और उपाधि से बच नहीं पाएगी। भौतिक पदार्थ भी इच्छा करने या प्रयत्न मात्र से नहीं मिल जाते, क्योंकि मैं चाहे

कितनी भी चाहना करूं या उन्हें पाने के लिए कितने ही प्रयत्न करूं, वे मिल ही जाएं यह जरूरी नहीं, क्योंकि वे भाग्याधीन हैं। ऐसे पदार्थों के पीछे जीवन बर्बाद करना और जो मेरा है, उसे भूल जाना, यह निरी मूर्खता है। जो मेरा है, उसका प्रादुर्भाव तब होगा जब मैं पर से मुक्त बन जाऊं।

इस प्रकार स्व-पर का विवेक करने के बाद स्व को उन्नत बनाने की कोशिश कीजिए। अनंतज्ञानियों द्वारा बताए गए मार्ग का इस प्रकार अनुसरण कीजिए कि किसी भी संयोग में जो अपने को प्रतिकूल व्यवहार है, उसका आचरण किसी के प्रति न हो। इस प्रकार यथासंभव सबके अनुकूल बतार्व का प्रयत्न शुरू होगा तो जीवन में हिंसा की जगह अहिंसा का आगमन होगा, असत्य की जगह सत्य आएगा, अनीति का स्थान नीति ले लेगी, विषय-विलास की जगह विषय-वैराग्य का प्रादुर्भाव होगा, पर-पदार्थ की मूर्च्छा जाएगी और दुनिया की वस्तुओं के प्रति जो ममत्व बुद्धि है, वह खत्म हो जाएगी।

इससे क्रोध की जगह क्षमा, मान की जगह मृदुता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर संतोष आएगा। इसके साथ वैराग्य, समभाव आएगा और कलह-क्लेश का नाम भी नहीं रहेगा। किसी पर आरोप लगाना, चुगली करना, सांसारिक सुख के पदार्थों के वियोग के कारण हर्ष-शोक करना, पर-निंदा की बुरी आदत इत्यादि पाप खत्म हो जाएंगे। जीवन में धर्म आने लगेगा और अठारह प्रकार के पाप अपने आप जाने लगेंगे। ऐसी आत्मा कभी किसी के लिए दुःखरूप नहीं बनेगी या किसी को दुःखी नहीं बनाएगी।

जिसके जीवन में धर्म नहीं है, उसको शान्ति तो नहीं ही मिलेगी, वह दूसरों के लिए भी शापरूप बन जाएगा। इस बात का विचार करके, धर्म को अपना साथी बनाने का आपको प्रयत्न करना होगा। जो पुण्यात्माएं धर्म को साथी बनाकर अपना जीवन जीने का निर्णय करेंगी, वे इस भव में भी सुख और शान्ति का अनुभव करेंगी और पर-भव को भी सुधारकर अन्ततः परम् शान्ति को प्राप्त कर सकेंगी। सभी इस प्रकार का वर्तन करें और परम् शान्ति को प्राप्त करें, यही शुभेच्छा है।

कर्म परिणामों को समभाव से सहन करें

कर्म के अधीन सुख-दुःख को अवश्य ही भोगना पडता है। सुख-दुःख कर्म के अधीन हैं और कर्म के नाश के बिना उनका नाश संभव नहीं है। इस कारण कर्माधीन जीवों को यह अवश्य ही भोगने पडते हैं। जिस वस्तु (कर्म-परिणाम) को भोगे बिना कोई चारा नहीं, कोई रास्ता नहीं, कोई विकल्प नहीं, उसे भोगते हुए शोक किसलिए? खेद करने से क्या होगा? रोने से क्या होगा? इससे तो और नए दुष्कर्मों का उपार्जन होगा। जब कर्माधीन सुख-दुःख भोगने ही पडें वैसे हैं, तो उन्हें इस प्रकार से क्यों न भोगे जाएं कि जिस रीति से उनको भोगते हुए आत्मा नवीन दुष्कर्म का उपार्जन करने वाला नहीं बने और उदय में नहीं आए हुए ऐसे भी दूसरे बहुत कर्मों की निर्जरा साधने वाली बने। दुःख आने वाला है, यह बात निश्चित है। उसको भोगे बिना छुटकारा नहीं है। रोने से या माथा कूटने से कुछ नहीं होना है। तो धीर और वीर बनकर समभावपूर्वक आए हुए दुःखों को सहन करने में आपत्ति क्या है? इसमें लाभ है या नुकसान? एकान्ततः लाभ ही है।

आत्मा सच्चा धीर और वीर बनता है तो उसका दुःख कुछ भी बिगाड नहीं सकता। आया हुआ दुःख उल्टा उपकारक बन जाता है। सोचो कि भयंकर दुःख में भी सुन्दर भाव के योग से उत्पन्न होने वाला समाधि-सुख, यह कैसा अनुपम सुख है? यह दशा तो वर्तमान में भी सुख देती है और भविष्य को भी सुखमय बना देती है। इसके विपरीत, दुष्कर्म के उदय के समय व्यथित होने वाले, अस्वस्थ बनने

वाले, रोने वाले अथवा माथा कूटने वाले आदि तो, उदय में आए हुए दुष्कर्म को भोगने के साथ दूसरे अनेक दुष्कर्मों को उपार्जित कर स्वयं के दुःख को बढा देते हैं। इससे नहीं तो वर्तमान में शान्ति मिलपाती है और न भविष्य में शान्ति मिलना संभव है।

कर्मसत्ता की अधीनता से मुक्त बनाने वाली धर्मसत्ता है। धर्मसत्ता की शरण में रहने वाली आत्माएं कर्मसत्ता से सर्वथा मुक्त न बने, वहां तक भी समाधिमय मानसिक स्वास्थ्य को सुन्दर प्रकार से भोग सकती हैं। विपत्ति के समय में दूसरे किसी की भी शरण सफल नहीं होती है, केवल मात्र एक धर्म की शरण ही सही राह दिखा सकती है। विपत्ति से उद्धार करने में वास्तविक प्रकार से कोई समर्थ है तो वो केवल धर्म ही है और धर्म भी वह कि जो श्री जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित है। हम जैन हैं, इसलिए हम ऐसा कहते हैं, ऐसा नहीं है। जो वास्तविकता है, वही हम कहते हैं। सम्यक्त्व अर्थात् क्या है? जो जैसा है, उसको वैसा ही मानना। चेतन और जड का जो वास्तविक स्वरूप है, उसी स्वरूप को मानना और उससे विपरीत स्वरूप को मिथ्या मानना। हेय को हेय और उपादेय को उपादेय मानना, यही सम्यक्त्व है। श्री जिनोक्त तत्त्वों में रूचि को ही सम्यक्त्व कहते हैं। श्री जिनेश्वरदेवों ने तत्त्वों का स्वरूप जैसा है, वैसा ही फरमाया है, इसलिए वही सच्चा धर्म है और वही विपत्ति से उद्धार करने वाला है।

मरण सुधारने के लिए जीवन सुधारो

मरण निश्चित है, यौवन फूल जैसा है और ऋद्धि चंचल है। इतना जानने के बाद भी मरण आने के पहले साधने योग्य साधन की तरफ बेफिक्र होना, यौवन में भान भूलकर रहना और ऋद्धि का गुलाम बनकर धर्म से परांगमुख बने रहना, इसमें क्या चातुर्य है? कुसुम को कुमलाते हुए कितना समय लगता है? और कुमलाए हुए फूल की कीमत कितनी होती है? यौवनरूप फूल कुमला जाए, उसके पूर्व ही यौवन में मोक्षमार्ग की उत्कृष्ट साधना-आराधना करने के लिए तैयार होना चाहिए। इसी प्रकार ऋद्धि चंचल होने से उसके घमण्ड में न रहकर, संभव हो वहां तक उसका भी अधिक से अधिक सदुपयोग कर लेना चाहिए। यौवन भोग में जाए और ऋद्धि का दुरुपयोग हो, तो मरण सुधरता है या बिगडता है? बिगडता ही है। अधिकांशतः ऐसा ही होता है।

इसलिए मरण को सुधारना हो तो जीवन को सुधारो। ऐसा न हो कि जीवन के अंत में पश्चाताप करना पडे कि 'मरण निश्चित है, यौवन फूल के जैसा है और ऋद्धि चंचल है, यह जानने के बाद भी मैंने प्रमादवश धर्म नहीं किया और विषयों के अधीन बनकर, प्रमाद में पडकर मैंने यह जीवन व्यर्थ ही गंवा दिया।' हालांकि जीवन व्यर्थ गंवाने वालों में भी पुण्यात्माओं को ही मरण के समय ऐसा विचार आता है। अंतिम क्षणों में भी ऐसे विचारों से कर्मों की कुछ निर्जरा होती है, कर्मबंध ढीले पडते हैं, लेकिन घर में आग लगी हो, तब कुआं खोदने की शुरुआत होती है क्या? सांप के डंक मारने के बाद मंत्र-जाप का अवसर होता है क्या? ऐसे विचार आने पर भी गति पूरी तरह सुधर जाएगी, ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसलिए मरण सुधारने के लिए जीवन सुधारना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी मृत्यु कब और किस अवस्था में आएगी यह अनिश्चित है, उन क्षणों में सामान्य चिन्तन का अवसर भी मिलेगा या नहीं, यह विचारणीय है। यदि मृत्यु पूर्व चिन्तन का जरा भी अवसर मिलता है तो विचार करें कि 'मैं मरण अवस्था में पडा हूं, जीवन का संदेह स्पष्ट दिखता है। इस समय कुछ विशेष धर्म करने का समय नहीं है, मैं कितना पामर और अधम हूं कि मुझे वीतरागी श्री जिनेश्वर देवों द्वारा प्रणीत जैन धर्म मिला और मैं आत्म-कल्याण के लिए कुछ कर नहीं पाया, मैं

अपने किए गए पापों का गहन पश्चाताप करता हूं और श्री अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, साधु भगवंतों को नमस्कार करता हूं। मैं श्री अरिहंत, श्री सिद्ध, श्री साधु भगवंतों और श्री केवली भगवन्तों द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हूं। ये चार शरण ही मंगलभूत हैं।' इस प्रकार श्री नवपद की आराधना में आत्मा को लीन बनाओ। श्री नवपद की आराधना करने वाले का कल्याण न हो, यह अशक्य है।

विपत्ति और समाधि

विपत्ति तो आएगी जब आएगी, किन्तु 'विपत्ति आएगी' ऐसा खयाल मात्र भी कैसी विपत्ति को खडा कर देता है? व्यथित होने से या घबराने से अवश्य आने वाली विपत्ति कोई थोडे ही रुक सकती है? जब व्यथित होने से या घबराने से, विपत्ति का आवागमन रोक नहीं सकते तो फिर विपत्ति आने के पहले खेदित होना, दुःख का अनुभव करना, 'आह-आह क्या होगा?' इस प्रकार करना, इससे फायदा क्या? ऐसी व्यथा और घबराहट दुःख में कुछ भी कमी नहीं कर सकती, अपितु दुःख में बढोतरी करने वाली ही होती है। विपत्ति आने वाली है, यह जानकर तो व्यक्ति को सावधान बन जाना चाहिए।

इस विपत्ति के समय आत्म-सम्पत्ति नष्ट न हो जाए, इसकी विशेष सावचेती रखनी चाहिए। आई हुई विपत्ति के निमित्त से आत्म-सम्पत्ति को विशेष रूप से प्रकट कर सकें, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। अचानक विपत्ति आती है तो तैयारी करने का समय नहीं रहता, किन्तु यदि पूर्व में ही उसकी सूचना मिल जाती है तो उस विपत्ति के समय समाधि रह सके, ऐसा हो सकता है। किन्तु, यह किसके लिए? विवेकी के लिए। अविवेकी तो विपत्ति आने वाली है, ऐसा जानकर ही व्यथा में अर्द्धमृतक जैसा हो जाता है। कितनी ही बार तो विपत्ति से भी, विपत्ति आएगी, यह विचार बडी विपत्तिरूप बन जाता है। कई बार तो ऐसे विचारों-विचारों में ही लोग पागल बन जाते हैं।

मतलब यह कि ऐसी व्यथा अथवा घबराहट इस लोक की और परलोक की, उभयदृष्टि से एकान्त हानिकारक ही है, इससे जगत के जीवमात्र के प्रति उपकार की भावना वाले ज्ञानी महापुरुष फरमाते हैं कि हित का उपाय तो यह है कि विपत्ति आनेवाली है, यह जानकर सद्विचारों में लीन बन जाएं और इस प्रकार आत्मा को सुस्थिर बना लें। विपत्ति के समय टिकने वाली समाधि तो दूसरी अनेकविध विपत्तियों के मूल का उच्छेदन कर देती है।

कर्माधीन आत्माओं के सब दिन एक समान नहीं होते हैं। कर्माधीन आत्मा का एक भी भव किसी न किसी प्रकार के दुःख के बिना ही बीत जाए, यह संभव ही नहीं है। विशेष पुण्यवान हो तो सुख का प्रमाण अधिक और विशेष पापी हो तो दुःख का प्रमाण अधिक। किन्तु, आदि से अंत तक एकान्त सुखमय जीवन कर्माधीन जीवों को प्राप्त होता ही नहीं है। क्या कोई एक भी मनुष्य कह सकता है कि 'मुझे मेरी जिन्दगी में दुःख का लवलेश भी अनुभव नहीं हुआ।' ऐसा होने पर भी, दुःख में भी सुख का अनुभव कर सके, ऐसा मार्ग उपकारी महापुरुषों ने दिखाया है। श्री जिनशासन के रहस्य को पाए हुए परमोपकारी महापुरुषों के द्वारा दिखाए गए मार्ग का यथास्थितिरूप से सेवन किया जाए तो भयंकर दुःख के योग में भी आत्मिक सुख का सुन्दर से सुन्दर आस्वादन प्राप्त कर सकते हैं और साथ ही साथ दुःखमात्र की जड के समान कर्मसमूह की निर्जरा भी सिद्ध हो सकती है।

मरण से नहीं, जन्म से डरो

एक दिन सबको मरना है। जन्म पाने वाला मरता ही है, यह सुनिश्चित बात है। जब मरण आना ही है और वह भी अपनी जानकारी के बगैर अचानक, तो फिर सावचेत रहने में बुद्धिमत्ता या लापरवाह रहने में बुद्धिमत्ता? ज्ञानियों ने मरण से डरने की मनाई की है। ज्ञानीगण तो मरण से डरने वालों को कहते हैं कि मृत्यु से तुम डरो या न डरो, यह तो आनेवाली ही है। कारण कि जन्म के बाद मृत्यु निश्चित है। मरण नहीं चाहिए तो जन्म नहीं हो, ऐसा प्रयत्न करो, क्योंकि जिसका जन्म नहीं, उसकी मृत्यु नहीं। इस रीति से कहकर, मरण से नहीं डरते हुए जन्म से डरने का ज्ञानियों ने सूचित किया है और शाश्वत काल के लिए जन्म से छुटकारा मिल जाए, इस प्रकार का इस जीवन में प्रयत्न करने की प्रेरणा की है।

यहां यह बात स्पष्ट ध्यान में रखने की है कि मृत्यु से निर्लज्ज होकर नहीं डरना, यह तो उल्टा नुकसान कारक है। मृत्यु से बेफिक्र बनकर स्वयं के जीवन को पापमय बना देना, यह तो एकान्त रूप से अनर्थ कारक है। मृत्यु का डर निकालने का कहने वालों ने जन्म से डरने का और जन्म से डरकर पुनः-पुनः जन्म न करना पडे, ऐसा सुप्रयत्न करने का साथ में फरमाया है। इससे स्पष्ट है कि मृत्यु से डरकर मृत्यु को दूर भगाने का प्रयत्न करना, इसका कोई अर्थ नहीं। मृत्यु से डरे बिना जन्म न करना पडे, ऐसा प्रयत्न करना, यही हितकारक है। जो आत्मा इस प्रयत्न में जीवन व्यतीत करता है, उसको पश्चाताप नहीं करना पडता। किसी भी क्षण में मौत आ जाए तो भी सच्चे धर्मात्मा व्यथित नहीं रहते हैं, किन्तु यह दशा आना आसान नहीं है।

आप जीवन को एकदम निष्पाप न बना सको, यह संभव है। किन्तु, जीवन को निष्पाप बनाने के पहले कदम के रूप में पापभीरुता तो अपनाओ। सबसे पहले यह काम करो कि आत्मा को पाप से डरने वाला बनाओ। पाप से डरने वाला तीव्र बंध नहीं करता है। पाप का विचार आने पर भी उसको दुःख होता है। पाप करना उसे अच्छा नहीं लगता है। इसलिए बहुत से पाप तो इससे दूर ही रहते हैं। जो थोडे पाप वह करता है, वह भी मन में दुःख, ग्लानि और पश्चाताप के साथ करता है अथवा तो दूसरों की तरह रसपूर्वक नहीं करता है। इसलिए उसको पापकर्म का बंध, वैसा दृढ नहीं ही होता है। जीवन में सच्ची पापभीरुता आ जाए तो निष्पाप जीवन बहुत दूर नहीं रहता है। ऐसी आत्मा जिसमें थोडा-बहुत पाप का डर है, उसमें अवसर-अवसर पर शुभ भावना आनी आसान है। जीवन के अंतिम समय में दुनियादारी के राग-द्वेष जिसको व्यथित करते हैं, वह दुर्गति में ही जाता है। अन्त समय की दशा अच्छी होती है तो गति अच्छी ही होती है। इसलिए अन्तिम समय में आत्मा दुनियादारी की ममता छोडे और एकमात्र देव, गुरु, धर्म का शरण स्वीकार करे। इस दशा को लाने के लिए अभी से आत्मा को भावित करना चाहिए।

भव-भ्रमण का रोग

हमारे अरिहंत भगवान् धन्वंतरी वैद्य हैं। मन्दिर अस्पताल हैं। साधु कम्पाउण्डर हैं। अरिहंत भगवान् (धन्वंतरी) द्वारा लिखी गई दवा ही साधु दे सकते हैं। अपने घर की या आप मांगें वह दवा वे नहीं दे सकते।

आप मन्दिर-उपाश्रय को निरोग बनने का स्थान मानकर यहां आते हैं क्या? यहां आने के पहले स्वयं को रोगी मानना, निरोग होने का संकल्प करना और समय पर नियमानुसार औषधि लेने के साथ ही पथ्य-परहेज पालने की बात को स्वीकार करना आप के लिए जरूरी होना चाहिए।

पहले यह बात निश्चित करिए कि 'हम रोगी हैं।' चार गतियों में भटकने का महारोग हमें लागू हो गया है। मन्दिर-उपाश्रय में आने पर भी अभी रोग का असर कम नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि हमने अभी रोग को पहचाना ही नहीं है। शरीर में उठा हुआ एक छोटा-सा रोग भी आपको चौबीसों घंटे याद आता है, जबकि भव-भ्रमण का यह घातक रोग आपको मन्दिर-उपाश्रय में भी याद आता है या नहीं? यह एक प्रश्न है।

थोडे काल तक सुख देने वाले और बहुत समय तक दुःख प्रदान करने वाले ये कामभोग अनर्थों की खान हैं। जीव विषयों की आसक्ति में इतना गृद्ध हो जाता है कि बिल्कुल भान भूल जाता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जितना विषयों को तृप्त करना चाहो, उतने ही ये ज्यादा प्रबल होते हैं। जैसे जलती आग में ईंधन डालो तो वह और ज्यादा भडकती है, बुझती नहीं है, उसी प्रकार विषयों को तृप्त करने के लिए हम जितने भी पदार्थों का सेवन करें, वे विषय शान्त होने के स्थान पर उतने ही अधिक प्रबल बनते हैं। विषयों की आसक्ति कैसे-कैसे जघन्य कृत्य करा देती है। उस वक्त तृष्णा की महाज्वाला में धधकता हुआ मन विवेकच्युत हो जाता है और उचित-अनुचित का भेद भूल कर महापाप कर बैठता है। ये विषय ही कर्म बंध और भव-भ्रमण का कारण हैं।

'मैं अनादि का रोगी हूं, संसार के विषय मुझे लगा हुआ घातक रोग है', इतना रट लो। तब इस रोग को दूर करने हेतु ही देव-गुरु-धर्म के पास आने की शुरूआत होगी।

संसार के इस रोग की दवा मनुष्य जन्म में ही मिलती है। सुख को फेंक देना और दुःख को अपनाना यही औषधि है। यह औषधि ही धर्म है। इस धर्म को मनमाने ढंग से करने वालों ने इस औषधि के रस-कस और शक्ति को नष्ट कर डाला है। अतःएव अपनी मनमानी को मारकर उस औषधि का सेवन करना चाहिए।

साधु-सेवा किसलिए?

'साधुओं को अन्न-पानी अथवा वस्त्र आदि देने से मेरी आत्मा का कल्याण होगा, निस्तार होगा', ऐसी बुद्धि श्री जिनाज्ञा के अनुसार विचरण करने वाले साधुओं को अन्न, पानी अथवा वस्त्रादि बहराते समय होनी चाहिए। 'साधु संयमी हैं। रत्नत्रयी के आराधक हैं। भगवान की आज्ञा के अनुसार महाव्रतों का पालन करने वाले हैं और संयम पालन सुखपूर्वक कर सकें, इसीलिए ही अन्न-पानी आदि लेते हैं। ऐसे महात्माओं के उपयोग में मेरी कोई वस्तु आए, ऐसा सदुपयोग हो तो ही मुझे प्राप्त हुई वस्तु की, सामग्री की सफलता है।' यह भावना साधुओं की सेवा करने वालों के अंतर हृदय में होनी चाहिए।

ऐसी उत्कृष्ट भावना से, रंक, कुछ भी पास में न हो तो रोटी का टुकडा देकर भी स्वयं का कल्याण कर सकता है। जबकि मिष्ठान आदि बहोरावे, परन्तु अपने को साधुओं के ऊपर उपकार करने वाला मानकर और अपने से साधुओं को तुच्छ मानता हो, स्वयं से साधुओं को दबा हुआ मानता हो, 'साधुओं को हम ही आहार-पानी देकर जीवित रखते हैं, इसीलिए साधुओं को हमारी आज्ञा माननी चाहिए', ऐसी भावना वाले जो हों, वे ऐसी पाप भावना के योग से तिरते नहीं, अपितु डूबते हैं। संयम का महत्त्व उनके हृदय में नहीं है, उनके हृदय में संयम के प्रति आदर भाव नहीं है, संयम को उन्होंने जाना ही नहीं है, अन्यथा ऐसी दुष्टवृत्ति, आत्मघाती विचार आता ही नहीं।

साधुओं को बहोराने वाले तो अपने संसार-वास की निन्दा करते हैं और मानते हैं कि 'ये महासत्त्वशाली हैं और मैं पामर हूं।' बहोराते समय उनके मन में यह भाव होना चाहिए कि 'ऐसी

संयमी आत्माओं की भक्ति करते-करते मेरे कर्मों का आवरण दूर हो और सम्यग्चारित्र की आराधना करने योग्य सामग्री मुझे प्राप्त हो।'

देव, गुरु के ऊपर उपकार करने की बातें करने या सोचने वाले पहले स्वयं पर तो उपकार करलें और सोचें कि शुभोदय से न जाने कहां-कहां भटकते हुए यहां पहुंचे हैं, अब फिर कहीं यहां से भटक गए तो किस-किस गति में लटकना-अटकना और भटकना पडेगा, भव निस्तार का अवसर चूक जाएगा। ऐसा विचार कर उन्हें अपने आत्म-कल्याण का चिंतन करना चाहिए।

सुदेव या सुगुरु भक्ति के भूखे नहीं होते। सुदेव और सुगुरु भक्ति से प्रसन्न होने वाले अथवा उसकी अधीनता स्वीकार करने वाले नहीं होते हैं। अन्न-पानी देने वालों के सेवक बनें, वे दूसरे। श्री जैन शासन के वे गुरु नहीं। अन्न देने वालों की ही आज्ञा उठानी होती तो यह वेश पहनने की जरूरत ही नहीं थी। जो श्री जैन शासन के साधु का वेश पहिनकर अन्न-पानी देने वालों की चापलूसी करे, खुशामद करे, जिनमें दासवृत्ति हो, वे साधुवेश में रह कर जैन शासन की अपभ्राजना कराने वाले हैं। ऐसे पामर श्री जैन शासन के साधु नहीं। यहां तो अन्न-पानी मिले तो संयमवृद्धि और नहीं मिले तो तपोवृद्धि, यही भावना होती है।

राजारूप आचार्य महाराज

श्री जिनशासन में आचार्य का स्थान राजा का होता है। राजा यदि निर्बल बनता है तो प्रजा अपने आप निर्बल हो जाती है। राजा का स्थान भोगना और उसे जाज्वल्यमान करना, उसके गौरव को बढाना, यह आसान नहीं है। राजा के स्थान पर बैठना और उस स्थान को कलंकित करना, यह तो राज्य की बर्बादी का ही रास्ता है। प्रजा की रक्षा, प्रजा का पोषण, प्रजा का विकास, प्रजा का कल्याण राजा की जिम्मेदारी है। विपत्तिकाल के समय जो राजा प्रजा का रक्षण करना भूल जाता है और स्वयं की रक्षा में लग जाता है, वह राजा राज्यपद को लज्जित करने वाला होता है। इसी प्रकार विपत्ति के सिवाय के समय में भी राजा ऊंगे नहीं। केवल भोग-विलास में मस्त नहीं रहे। राजा दुर्जन को दण्ड देने वाला और सज्जन को संरक्षण देने वाला होता है। राजा का प्रभाव तो ऐसा होता है कि दुर्जन को भागते ही रहना पडता है और सज्जन को किसी प्रकार का भय नहीं होता है। राजा के जीवित रहते हुए दुर्जन जो सज्जनों को संताप देने में सफल होता है तो राजा स्वयं के कारोबार-व्यवहार को कलंक लगा, ऐसा मानता है। राजा बनकर बैठना एक बात है और सच्चे राजा बनना, यह दूसरी बात है।

श्री जैन शासन में आचार्य का स्थान राजा का है, इसीलिए आचार्य के सिर पर सर्वाधिक जिम्मेदारी है। राजा-रूप आचार्य सदा साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका इस चतुर्विध संघ की रक्षा, विकास और विस्तार के काम में मस्त रहना चाहिए। चतुर्विध संघ में से कोई भी अंग शिथिल न बने, सड न जाए, ऐसी चिन्ता राजा-रूप आचार्य में होनी ही चाहिए। चतुर्विध संघ रत्नत्रयी की आराधना निर्विघ्न कर सके, इसकी परवाह आचार्य में हो। उसके योग से चतुर्विध श्री संघ रत्नत्रयी की आराधनारूप आबादी में किस रीति से बढोतरी करे, इसकी विचारणा और योजना आचार्य को अवश्य होनी चाहिए। आचार्य की उपस्थिति में आराधक निश्चिन्त होते हैं। वे समझते हैं कि सिर पर स्वामी बैठे हैं तो अपना रक्षण करेंगे ही। आराधक आचार्य महाराज की आज्ञा के प्रति समर्पित बने रहें और राजारूप आचार्य महाराज आराधकों की आराधना में आने वाले विघ्नों को दूर करने में सदैव तत्पर बने रहें, यह जरूरी है। भगवान की आज्ञा के सामने सिर ऊँचा करने वाले तो राजारूप आचार्य का नाम सुनते ही घबरा जाएं। उनको लगे कि ये बैठे हैं तो हमारी शासन-विरोधी गतिविधियां सफल नहीं हो सकती।

इसके विपरीत राजा का स्थान भोगने वाला आचार्य कायर बन जाए, कर्त्तव्य भूल जाए, जिनशासन की साधना-आराधना को भूलकर स्वयं की प्रभावना में पड जाए, पौद्गलिक साधना में पड जाए, शासनहित का नाश करके भी स्वयं की वाहवाही में लग जाए तो वह स्वयं तो डूबता ही है, उसके पाप से धर्मात्माओं को भी दुःखी होना पडता है। वर्तमान में ऐसी स्थिति अधिकांश रूप में चल रही है। इसीलिए सावधान बनने की आवश्यकता है।

दीक्षा का विधान गरीबी-अमीरी का भेद नहीं करता

निर्धन को दीक्षा दी जाए? जरूर दी जाए। योग्य हो तो भीख मांग कर पेट भरने वाला हो, उसको भी दीक्षा दे सकते हैं। आज तो शीघ्रता से टीका-टिप्पणी करते हैं कि 'खाने को नहीं था, इसलिए दीक्षा ली।' इस प्रकार बोलने वाले मोक्षमार्ग की आशातना करने वाले हैं। दरिद्रावस्था में भी पुण्यवान आत्मा को ही वैराग्य उत्पन्न होता है। भगवान का शासन केवल समृद्धिमन्तों के लिए ही है, ऐसा नहीं है।

गरीब या धनवान जो कोई कल्याण साधने की भावना वाला हो, उसके लिए भगवान का शासन है। दीक्षा धनवान को दी जाती है और निर्धन को नहीं दी जाए, ऐसा कोई नियम इस शासन में नहीं है। जिनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ है, ऐसी कोई भी योग्य आत्मा को दीक्षा देने की यह शासन मना नहीं करता है। योग्यता की परीक्षा करने का विधान है, किन्तु उस परीक्षा में वह निर्धन है या धनवान है, यह देखने का विधान नहीं है। जिन-शासन में कहीं भी गरीबी-अमीरी का भेद नहीं है।

निर्धन आदमी दीक्षा ले, तब उसकी हंसी करने वाले अज्ञानी हैं। ये बेचारे ऐसे संसार-रसिक हैं कि उनको दूसरा कोई धर्म करे, उसकी अनुमोदना करने का भी खयाल नही आता और दीक्षित पुण्यवान की तथा मोक्षमार्ग की आशातना करने का सूझता है। निर्धन ने दीक्षा ली, तो खाने का नहीं था इसलिए दीक्षा ली, ऐसा कहना कितना मूर्खतापूर्ण है? एक वस्तु का भी त्याग करना मुश्किल होता है, वह जितना कठिन होता है, उसकी अपेक्षा भी वस्तु के ऊपर से ममता छोडना, यह बहुत कठिन है। दरिद्री में दरिद्री भी जब त्यागी होता है, तब वह भविष्य में धन प्राप्त करने आदि की इच्छा को छोडता है न? उसका अन्य कोई नहीं तो भी तृष्णा तो छोड दी है न? इसलिए तृष्णा छोडना यह भी क्या कम बात है?

दरिद्र अवस्था में भी स्वच्छन्दी जीवन जीने वाले बहुत होते हैं। जब कि दीक्षित होने वाले पुण्यवान तो स्वयं के जीवन को नियंत्रित बना देते हैं। भगवान के शासन को पाई हुई आत्माओं को यह वस्तु समझ में आए बिना नहीं रहती। प्रथम और पश्चिम में दोनों भाई निर्धन थे, किन्तु मुनि का योग मिला, धर्म सुना, धर्म अच्छा लगा, वैराग्य पाया और दीक्षा ली, इसमें खोटा क्या किया? आज तो ऐसे पैदा हुए हैं कि जिनको धर्म करने का नहीं है और कोई धर्म करता है तो वह उनको सहन नहीं होता है। घोर पापोदय के बिना ऐसा नहीं होता है। धर्म आपसे नहीं बनता है, तुम जानो, किन्तु धर्म करने वालों की अनुमोदना तो करो। अरे! यह भी नहीं बनता हो तो निन्दा करने के पाप में तो न पडो। समझ लो कि जो योग्य हो उसे निर्धन होने पर भी दीक्षा दी जा सकती है। धनवान को ही दीक्षा दी जाए, ऐसा कोई नियम इस शासन में नहीं है।

लोभी व्यक्ति परिताप सहता है!

जो लोभ वाला व्यक्ति है, आकांक्षा वाला व्यक्ति है, जिसके मन में अनेकों इच्छाएँ हैं, वह रात दिन परिताप को सहन करता रहता है। अनेकों संकल्प-विकल्प उसके मन में उठते रहते हैं। उसको अपने लोभ में, अपनी तृष्णा में न काल का ध्यान रहता है, न अकाल का ही ध्यान रहता है। ऐसे व्यक्ति को समय-असमय का कोई ध्यान नहीं रहता है। उसके लिए तो फिर 4 बजे भी कहीं उठकर जाना है तो जाना है और 1 बजे उठकर जाना है तो जाना है। शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति संयोगार्थी होता है। अपने जीवन के लिए पारिवारिक जनों के लिए, बाह्य यश-प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए, वह विविध प्रकार के संयोगों को जुटाता है।

उसके मन में बस एक ही आकांक्षा होती है कि मैं कैसे अधिक से अधिक यश-प्रतिष्ठा अर्जित करूँ, कैसे देश में प्रतिष्ठित व्यक्ति बनूँ? कैसे मेरी समाज में पूछ-परख बढ जाए? ऐसी आकांक्षाएँ रखने वाला व्यक्ति फिर अर्थ का लोभी हो जाता है। रात-दिन उसका ध्यान अर्थ के प्रति लगा रहता है। उसका यही चिन्तन चलता रहता है कि कैसे मैं अधिक से अधिक धन एकत्र करूँ? भौतिक पदार्थों के प्रति ही उसका ध्यान लगा रहता है। उस अर्थ के लोभी व्यक्ति को यदि धन नहीं मिलता है तो फिर वह लूट-खसोट का काम भी करने लगता है। क्या करता है? एक दूसरे का गला काटने लगता है। ये माया के चक्कर, ये लोभ किस दृष्टि के व्यक्तियों में जागृत होते हैं, जिनका आत्मा पर ध्यान नहीं होता है। केवल जड पदार्थों के प्रति ही जिनका ध्यान लगा होता है। ऐसा व्यक्ति फिर बिना विचार किए ही कार्य करने वाला बन जाता है। फिर वह यह चिन्तन करना भी भूल जाता है कि मैं किसलिए धन को इकट्ठा कर रहा हूँ? किसके लिए धन-सम्पत्ति जुटा रहा हूँ?

जो संयम-साधना के प्रति सक्रिय होता है, उसकी जीवन-दृष्टि कुछ और ही होती है। इसके विपरीत जो लोभ के प्रति आसक्त बना होता है, उसकी जीवन-दृष्टि कुछ और ही होती है। उसके जीवन की गति ही विपरीत होती है। हम अपने अज्ञान के आवरणों को तोडें। सम्यकज्ञान का बोध हमें हो। तत्वातत्व का विवेक हमारे भीतर जागे। जन्म-मरण से बचने का प्रयास करें। मुक्ति को पाने का प्रयास हमारा बने। अन्यथा हजारों बार हम उच्चारण कर लें कि हमारा जन्म-मरण हो रहा है, हम हजारों बार जन्म-मरण कर रहे हैं। तो केवल उच्चारण करने मात्र से कुछ नहीं होता है। हमारे अन्तरंग में यह बात सम्यक रूप से बैठनी चाहिए तो जीवन की दिशा बदल सकती है। ऐसे हमारे जीवन की दिशा अगर बदलेगी, तो हमारा आत्म-कल्याण होगा।

कैसा जीवन जीएं?

आज आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है। इसी कारण मनुष्य, मनुष्य न रहकर पशु बन गया है। अपनी बढी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रास्ते में आने वाले बाधक तत्त्वों को फेंकदेने, मिटादेने की वृत्ति फैल रही है। समर्थ न हो तो दबकर रहेगा, लेकिन वृत्ति तो यही रहती है। ऐसी दशा में भी यह आदर्श आँखों के सामने आ जाए कि 'किसी का सुख छीनकर मुझे अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है', तो अवश्य फर्क पडेगा। मुझे किसी का बाधक नहीं बनना है, यह वृत्ति और ऐसी प्रबल भावना प्रकट हो जाए तो मानव के जीवन में बडा परिवर्तन आए बिना नहीं रह सकता।

यहां यह सवाल सहज ही उठ सकता है कि 'मैं किसी का बाधक न बनूं, पर कोई मेरा बाधक बन जाए तो मुझे क्या करना चाहिए?' इसका सीधा जवाब यही है कि आप अधिक विवेकी हैं, इसलिए आपको सहन कर लेना चाहिए। दूसरा अपना बाधक बने तो भी हमें उसका बाधक नहीं बनना चाहिए। बल्कि उसके अज्ञान को समझ कर, उस पर दया कर के, उसे भी सीधे रास्ते पर लाने की कोशिश

करनी चाहिए। यही आदर्श प्रत्येक मनुष्य का होना चाहिए, भले ही इसका अमल पूर्ण रूप से न हो सके, पर फिर भी यह आदर्श निश्चित हो जाना चाहिए। इस आदर्श का जितना अमल होगा, जीवन में उतना ही लाभ होगा। यह स्वाभाविक है कि सबसे इस आदर्श का पूर्णतया पालन संभव नहीं है, पर इसे जीवन का आदर्श बना लेने पर परिवर्तन आए बिना नहीं रहता, यह भी निश्चित है।

मुझे किसी का बाधक नहीं बनना चाहिए, ऐसी भावना आने के बाद आत्मा धर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती और कोई मेरा बाधक बने तब भी मुझे उसके विरूद्ध नहीं होना है, ऐसी उमदा वृत्ति का प्रादुर्भाव धर्म के कारण हुए बिना नहीं रहता।

'मनुष्य सभी जीवों में श्रेष्ठ है', यह बात दार्शनिक मानते हैं और जडवादी भी मानते हैं। मनुष्यों में भी जो ज्ञानी हैं, वह अन्यों से महान हैं और ज्ञानियों में भी जो विवेकयुक्त हैं, वे उनसे महान हैं। अब सोचिए कि महान को महान कब कहा जाएगा? जो नीच व्यक्ति के द्वारा किए गए अपने प्रति खराब व्यवहार को माफ कर दे, वही महान कहा जाएगा। अज्ञानी, ज्ञानी को गाली दे और उसके बदले में ज्ञानी भी अज्ञानी को गाली दे तो आप उसे क्या कहेंगे? दोनों एक जैसे हैं! आपको लगना चाहिए कि मुझे प्राप्त होने वाली प्रतिकूलता किसी न किसी तरह मेरे ही किसी कृत्य का फल है, चाहे वह कृत्य इस जन्म का हो या पिछले जन्म का। इसलिए अब किसी भी हालत में दुष्कृत्य नहीं करना है। पिछले जन्मों के कृत्यों के आधार पर भाग्य का निर्माण हुआ है और उसी के अनुरूप अनुकूलताएं या प्रतिकूलताएं मिलती हैं, यह सिद्धान्त याद रखने योग्य है। भाग्य के साथ इस जन्म का पुरुषार्थ आदि अन्य चीजों की भी जरूरत पडती है, लेकिन भाग्य तो परमावश्यक है। इसके अभाव में प्राप्त वस्तुएं भी हाथ से निकल जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में भी क्रोध का जन्म न हो, यह तभी संभव है कि जब उपर्युक्त सिद्धान्त हृदय में बैठ जाए।

-आचार्य श्री विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

Collection and translet in Hindi by Dr.Madan.Modi.